ISSN : 2231-0509
वर्ष 18/अंक 1/जनवरी-फरवरी, 2016

शिक्षा विमर्श

शैक्षिक चिंतन एवं संवाद की पत्रिका

अजीम प्रेमजी यूनिवर्सिटी, बेंगलूरु के सहयोग से प्रकाशित

शिक्षा विमर्श

शैक्षिक चिंतन एवं संवाद की पत्रिका
वर्ष 18/अंक 1/जनवरी-फरवरी, 2016

प्रधान संपादक रोहित धनकर
संपादक विश्वंभर
प्रबंधक रीना दास
कला पक्ष रामकिशन अडिग
कम्प्यूटर/प्रसार प्रबंधन ख्यालीराम स्वामी

संपर्क

शिक्षा विमर्श
दिगन्तर, खो नागोरियान रोड,
जगतपुरा, जयपुर-302017 राजस्थान
फोन : (0141) 2750230, 2750310
मो. 9214181380 (प्रसार प्रबंधक)
ई मेलः shikshavimarsh@gmail.com
वेबसाइटः www.digantar.org

सदस्यता राशि

	व्यक्तिगत	संस्थागत
एक प्रति	55	80
वार्षिक	**300**	**450**
द्वि-वर्षीय	550	850
तीन-वर्षीय	750	1200
आजीवन	3000	4500

(ऑनलाईन राशि भेजने के लिए www.digantar.org देखें)

‘शिक्षा विमर्श’ के लिए सभी भुगतान ‘दिगन्तर शिक्षा एवं खेलकूद समिति, जयपुर’ (Digantar Shiksha Evam Khelkud Samiti, Jaipur) के नाम देय मनीऑर्डर, डिमांड ड्राफ्ट अथवा चैक द्वारा किया जाए।

इस पत्रिका में व्यक्त विचार लेखकों के हैं।
दिगन्तर की इन विचारों से सहमति हो यह जरूरी नहीं है।

अनुक्रम

संपादकीय 3
❑ विश्वंभर

शिक्षा का समाजशास्त्र

वर्गीय विषमता के सिद्धांत व शिक्षा 5
❑ अमन मदान

परिप्रेक्ष्य

नए दौर में स्कूली शिक्षिकाएंः कुछ प्रारम्भिक विचार 12
❑ नंदिनी मांजरेकर

साक्षात्कार

शिक्षा के उद्देश्य एवं मूल्य शिक्षा 21
❑ शारदा जैन के साथ विश्वंभर की बातचीत

अनुभव

एक स्कूल मैनेजर की डायरी के कुछ पन्ने-XVIII
सत्ता, सियासत की तहें और स्कूली संगठन 27
❑ फ़राह फ़ारूखी

बाल-साहित्य समीक्षा

बच्चों के गुलजार 37
❑ पल्लव

बहस

शोषण को वैधानिकताः एक उदाहरण 40
❑ बीरेन्द्र सिंह रावत, फिरोज अहमद एवं मनोज चाहिल

अवलोकन

भाषा शिक्षणः सीखने के कुछ अवसर 44
❑ अनुपमा तिवाड़ी

मुख्य आवरण चित्रः प्रसिद्ध चित्रकार स्वर्गीय श्री नारायण श्रीधर बेन्द्रे की कृति ‘मां और शिशु’
अन्तिम आवरण चित्रः अनुराग उदय कुलकर्णी, उम्रः 12 वर्ष

दिगन्तर शिक्षा एवं खेलकूद समिति, जयपुर के लिए सुश्री रीना दास द्वारा
श्री राधे एन्टरप्राइजेज, एफ-23-सी 5, मालवीय नगर, जयपुर-302017 से मुद्रित
एवं दिगन्तर, खोनागोरियान रोड, जगतपुरा, जयपुर-302017 से प्रकाशित

संपादकीय

मौजूदा वक्त में सरकारी और निजी स्कूलों में सभी बच्चों की गुणवत्तापूर्ण शिक्षा एक मुख्य सरोकार है। पिछले कुछ सालों में यह विषय चर्चा के केन्द्र में रहा है। इसके बावजूद जमीनी स्तर पर बदलाव होते हुए दिखाई नहीं दे रहे हैं। पिछले दिनों बांग्लादेश से आए एक समूह के साथ मुझे कुछ सरकारी स्कूलों में जाने का मौका मिला। यह एक विचित्र संयोग था कि एक तरफ स्कूल में कई स्कूलों से आए शिक्षकों का एडुसेट के जरिए सतत एवं व्यापक मूल्यांकन पर सीधे प्रसारण के माध्यम से प्रशिक्षण चल रहा था और दूसरी तरफ कक्षा 6 से 9 के अधिकांश बच्चे कुंजियों/पासबुक के जरिए सवाल-जवाबों की नकल करने में व्यस्त थे। इन बच्चों के पास अपनी पाठ्यपुस्तकों के कुल जमा पन्नों जितनी एक ही कुंजी/पासबुक थी। कक्षा 6 के बच्चों के पास करीब 300 पृष्ठों और कक्षा 9 के बच्चों के पास 800 पृष्ठ वाली सभी विषयों की समेकित कुंजी थी। मैंने जानना चाहा कि वे इनका उपयोग क्यों करते हैं। मैंने पूछा, ''आप लोगों के पास तो किताबें भी हैं, जितने पन्ने आपकी सब किताबों को मिलाकर बनते हैं लगभग उतने ही इस कुंजी/पासबुक में हैं। फिर आप लोग किताबें ही क्यों नहीं पढ़ते हैं? क्या इन कुंजियों में किताबों से कुछ अलग है?'' बच्चों का जवाब था, ''इनमें सभी सवालों के जवाब एक साथ मिल जाते हैं।''

यह अनुभव इशारा करता है कि हमारी शिक्षा व्यवस्था काफी खोखली हो चुकी है और स्कूलों में प्रशिक्षण के चाहे जितने भी तामझाम किए जा रहे हों, वहां उपयुक्त तरीके से शिक्षण कार्य नहीं हो रहा है। यह अनुभव यह भी संकेत करता है कि हमारी शिक्षा व्यवस्था सीखने की रूढ़ धारणा से मुक्त नहीं हो पाई है। यहां सीखने का मतलब अभी भी प्रश्नों के जवाब दे देना भर ही माना जा रहा है। शिक्षकों और बच्चों के दिमाग में यह बहुत गहराई से बैठा हुआ है कि 'सफलता' के मायने परीक्षाओं में अंक ले आना भर है और वह सिर्फ रटकर ही संभव है। एक संकेत यह भी है कि हमारे यहां अध्यापक शिक्षा बेअसर हो चुकी है। फिर चाहे यह सेवापूर्व अध्यापक शिक्षा हो या सेवाकालीन। दो साल के *डिप्लोमा इन एज्युकेशन* कोर्स में और *बीएड* के एक साल के कोर्स में शिक्षकों की अपेक्षित तैयारी नहीं हो पा रही है। शिक्षा की गुणवत्ता सुधारने के नाम पर सरकारों ने शिक्षक बनने की अर्हता में सेवापूर्व शिक्षक प्रशिक्षण को अनिवार्य बनाया है और सेवाकालीन प्रशिक्षण के भी प्रावधान किए हैं, फिर भी स्कूलों में सीखने का सूरतेहाल ऐसा क्यों है?

किसी भी सूरत में कक्षाओं में गुणवत्तापूर्ण सीखने का लक्ष्य अध्यापक शिक्षा की अनदेखी करके हासिल नहीं किया जा सकता। शिक्षाविदों और शिक्षा के क्षेत्र में कार्यरत संगठनों का ध्यान पिछले दो दशकों में इस तरफ दिलाया है। इसके बावजूद सरकारों ने इसे पूरी गंभीरता से नहीं लिया है बल्कि कहना चाहिए कि शिक्षा के बाजार में अध्यापकों की पूर्ति और 'बेहतरी' के नाम पर केन्द्र और राज्य सरकारों ने अध्यापक शिक्षा को लगभग पूरी तरह निजी संस्थाओं के हवाले कर दिया है। मार्च 2013 के आंकड़ों (टीचर एज्युकेशन, डिपार्टमेंट ऑफ स्कूल एज्युकेशन एण्ड लिटरेसी, मानव संसाधन विकास मंत्रालय) के हिसाब से पूरे देश में *डिप्लोमा इन एज्युकेशन* और *बीएड* जैसे अध्यापक शिक्षा कोर्स के करीब 93 प्रतिशत संस्थान निजी क्षेत्र द्वारा संचालित किए जा रहे हैं जबकि सिर्फ 7 प्रतिशत सरकारी हैं। इनमें अध्ययनरत शिक्षार्थियों का प्रतिशत भी कमोबेश यही है। सवाल यह है कि अध्यापक शिक्षा संस्थानों की इस स्थिति का सभी बच्चों की गुणवत्तापूर्ण शिक्षा से क्या संबंध है?

राज्य एवं केन्द्र सरकारें आमतौर पर यह प्रतिबद्धता जाहिर करती हैं कि उनका मकसद सभी बच्चों को गुणवत्तापूर्ण शिक्षा मुहैया कराना है लेकिन अपने इस आदर्श को अर्जित करने के लिए उन्होंने अध्यापक शिक्षा

को कभी भी गंभीरता से नहीं लिया है। बगैर सामान्यीकरण के यह कहा जा सकता है कि अध्यापक शिक्षा के लिए संचालित अधिकांश निजी संस्थान इसे मुनाफे का जरिया ही मानते हैं। यदि मुनाफे को जायज मान भी लिया जाए तो भी इन संस्थानों में सीखने-सिखाने की स्थितियां निराशाजनक हैं। पिछले साल मुझे कुछ निजी बीएड कॉलेजों को देखने-समझने का अवसर मिला। इन कॉलेजों में कार्यरत शिक्षक कागजी तौर पर सभी अर्हताएं पूरी करते हैं, लेकिन सीखने-सिखाने के पाठ्यक्रम और तौर-तरीके पुराने ही हैं। आज भी कक्षाओं में व्याख्यान पद्धति से ही शिक्षण होता है। बुनियादी सुविधाओं में बेहतर होने के बावजूद इन कॉलेजों में नियमित कक्षाएं नहीं लगतीं। एक निजी बीएड कॉलेज में कुछ शिक्षार्थियों के साथ हुई बातचीत से जाहिर हुआ कि कुछ विशेष आयोजनों पर उन्हें इकट्ठा करने के लिए कॉलेज की तरफ से फोन किया जाता है। उनमें उपस्थित होना अनिवार्य है। इसके अलावा यदि वे नहीं आते हैं तो काम चल जाता है, कॉलेज आने की बाध्यता नहीं है। यह पूछने पर कि फिर परीक्षा के लिए उपस्थिति का अनिवार्य प्रतिशत और पास होने के लिए पढ़ाई का क्या होता है? उन्होंने कहा कि यह सब तो मैनेज हो जाता है। कॉलेज के एक प्राध्यापक ने निजी बातचीत में बताया कि उपस्थिति और परीक्षा सब मैनेज हो जाती हैं। कॉलेज को सिर्फ फीस से लेना-देना है। यदि वह मिल गई तो फिर बाकी सब काम हो जाते हैं।

अध्यापक शिक्षा की स्थिति सिर्फ निजी कॉलेजों की ही खराब नहीं है बल्कि सरकारी संस्थानों की स्थिति भी लगभग इनके समान ही है। *डिप्लोमा इन एज्युकेशन* के एक सरकारी संस्थान के अवलोकन से भी कमोबेश यही स्थिति उजागर होती है। पिछले दिनों मुझे *डिप्लोमा इन एज्युकेशन* के एक सरकारी संस्थान के शिक्षार्थियों के साथ अन्तःक्रिया करने का अवसर प्राप्त हुआ। संस्थान के साथ यह अन्तःक्रिया एक कार्यक्रम के तहत नियमित तौर पर की जाती है लेकिन मेरे लिए यह पहला अवसर था। हमारी यह अन्तःक्रिया प्रथम वर्ष के शिक्षार्थियों के साथ पहले से तय थी। संस्था प्रधान ने स्वयं और बाकी स्टाफ की काम से मुक्ति के लिए मौके का फायदा उठाते हुए प्रथम और द्वितीय वर्ष के सभी शिक्षार्थियों को एक साथ बैठा दिया। एक बड़े कमरे में करीब 55-60 शिक्षार्थी फर्श पर बिछी दरी पर पंक्तिबद्ध बैठ गए। इसके बाद नियमित तौर पर होने वाली प्रार्थना को पूरे रीति-रिवाज से करवाने के बाद शिक्षार्थियों को हमारे हवाले करके चले गए। शिक्षार्थियों के साथ अध्यापकों द्वारा किए गए बर्ताव में सत्ता का भरपूर उपयोग किया गया। समय पर आने की नसीहतें दी गईं जबकि स्वयं शिक्षक भी समय पर संस्थान में मौजूद नहीं थे।

शिक्षार्थियों के साथ अन्तःक्रिया से पता चला कि अधिकांश शिक्षार्थी ग्रामीण पृष्ठभूमि से थे। 12वीं कक्षा की पढ़ाई पूरी करने के बाद यह एक आसान विकल्प था और यह डिप्लोमा एक संभावित सुरक्षा उन्हें प्रदान करता है कि कम से कम शिक्षक तो बन ही जाएंगे। इसके अलावा सीखने-सिखाने के प्रति वे उदासीन ही थे। उन्हें चर्चा में शामिल करने की तमाम कोशिशें व्यर्थ ही गईं क्योंकि वे उच्च माध्यमिक स्तर तक की शिक्षा में व्याख्यान पद्धति के अभ्यस्त हो चुके थे। लेख पढ़ने और उस पर चर्चा करने में उनकी सहभागिता नहीं के बराबर ही थी। इस अनुभव से पता चलता है कि हमारी उच्च माध्यमिक स्तर की शिक्षा पढ़ने, समझने और चर्चा करने के कौशलों से सरोकार नहीं रखती। एक अन्य समस्या जो इन अनुभवों से समझ में आई वह यह कि इन कोर्सेज के लिए आने वाले शिक्षार्थियों की जो भी समझ हो या विश्व बोध हो, अध्यापक शिक्षा कोर्स उस यथार्थ के साथ बिना टकराए पाठ्यक्रम में दिए गए कोर्स को पूरा कराने का काम करते हैं। जब तक प्रशिक्षुओं अध्यापकों के विश्व बोध में बदलाव के लिए कोशिश नहीं की जाएगी और उनके साथ संस्था में उनके आत्मसम्मान और गरिमा के साथ व्यवहार नहीं किया जाएगा तब तक, उनके नजरिए में बदलाव नहीं लाया जा सकता। साथ ही उन्हें स्वयं सोचने, समझने के अवसर भी देने होंगे। उनके सामाजीकरण की एक पुख्ता जकड़ से मुक्त कराने की जद्दोजहद जब तक इन कोर्स में नहीं की जाएगी तब तक बेहतर शिक्षक तैयार करना एक सपने जैसा ही रहेगा।

इसके लिए अध्यापक शिक्षा में निवेश बढ़ाने की जरूरत है। दीर्घकालीन सोच के साथ यह निवेश सरकार ही कर सकती हैं। साथ ही ढांचागत बदलाव करना भी जरूरी है। निजी संस्थाओं के हाथों में इसे सौंपकर बेहतर अध्यापक तैयार नहीं किए जा सकते। ◆

विश्वंभर

वर्गीय विषमता के सिद्धांत व शिक्षा

अमन मदान

शैक्षिक विषमता को अलग से देखने के बजाय सामाजिक विषमता की एक व्यापक व्यवस्था के हिस्से के रूप में देखा जाना चाहिए। पिछले लेख में हमने इस बात पर चर्चा की थी कि वर्ग भेद का आशय क्या है तथा भारत के विभिन्न वर्गों में शैक्षिक अनुभवों व अवसरों की स्थिति किस तरह की नज़र आती है। इस लेख में हम वर्गीय विषमता से संबंधित विभिन्न सिद्धांतों पर एक नज़र डालेंगे जिससे हमें यह समझने में मदद मिलेगी कि भारत में शिक्षा किस तरह काम करती है। ये सिद्धांत हमें एक ऐसा संदर्भ व रूपरेखा उपलब्ध करवाते हैं जिसे आधार बनाकर हम शिक्षा को देखना शुरू कर सकते हैं। ये भारत व विश्व के वर्गीय ढांचे में शिक्षा की भूमिका का नया चेहरा हमारे सामने लाते हैं। हम जाति व लिंग जैसी सामाजिक विषमताओं के अन्य रूपों व उनके आपसी संबंधों पर चर्चा थोड़ा बाद में करेंगे।

वर्गीय विषमता का प्रकार्यवादी सिद्धांत

प्रकार्यवाद का सिद्धांत इस बात को रेखांकित करता है कि सामाजिक विषमता किस तरीके से किसी समाज को बनाए रखने व चलते रहने में योगदान देती है। यानी, यह सिद्धांत सामाजिक विषमता की व्याख्या करते हुए इस बात को ध्यान में रखता है कि उसके समाज में क्या कार्य होते हैं। इस संबंध में सबसे मशहूर कथन किंग्सले डेविस तथा विल्बर्ट ई. मूर का है। उनका कहना है कि हर समाज को अपने लोगों को ऐसे काम करने के लिए प्रेरित करना होता है जो उसे जीवित रखते हैं व आगे बढ़ाते रहते हैं। हर समाज को इस तरह की जरूरत होती है कि वह अपने ढांचे में मौजूद कुछ भूमिकाएं निभाने व उपयुक्त गतिविधियां करने के लिए लोगों को आगे लाए। उदाहरण के लिए, भोजन पैदा करना, उसे पकाना, उसे बांटना आदि। समाज में कुछ काम कठिन व अरुचिकर होते हैं और आमतौर पर लोग उन्हें करना नहीं चाहते हैं। मसलन, डॉक्टरी की पढ़ाई करने में बहुत मेहनत व लंबा वक्त लगता है। ऐसे में इसे उन भूमिकाओं के लिए लोगों को आकर्षित करने में समर्थ होना होगा, साथ ही लोगों में उन भूमिकाओं को निभाते रहने की इच्छा को बनाए रखना होगा। यह सब इस तरह करना होगा कि लोग अपनी भूमिका छोड़े बिना व दूसरी भूमिका में जाने का प्रयास किए बिना अपनी भूमिकाओं को निभाते रहें। प्रकार्यवादी इस संबंध में तर्क देते हैं कि जो लोग महत्वपूर्ण भूमिकाओं को निभा रहे होते हैं उन्हें अतिरिक्त प्रोत्साहन और इनाम देकर इस काम को अंजाम दिया जाता है। जरूरी नहीं कि यह प्रोत्साहन एवं इनाम धन के रूप में ही हो, इसे सामाजिक प्रतिष्ठा व प्रशंसा के रूप में तथा काम करने की एवज में ज्यादा साधन व संसाधन उपलब्ध करवा कर भी दिया जा सकता है। एक समाज को अपने-आपको निरंतर बनाए रखने व हरेक व्यक्ति की जरूरतों को पूरा करने के लिए सामाजिक विषमता की जरूरत होती है। प्रकार्यवादी नज़रिए के हिसाब से शिक्षा यह पहचानने का काम करती है कि उन महत्वपूर्ण भूमिकाओं को कौन लोग निभा सकते हैं। शिक्षा इस बात की पहचान करती है कि कौन बेहतर

डॉक्टर बन सकता है, कौन बेहतर राजनीतिज्ञ हो सकता है, कौन बेहतर वास्तुकार व शिक्षक बन सकता है तथा उसी हिसाब से उन्हें उपयुक्त संस्थानों में प्रशिक्षित व प्रेरित होने के लिए भेज देती है। प्रकार्यवादी यह तर्क देने की कोशिश करता है कि इसी कारण अच्छे विद्यालय व विश्वविद्यालय तुलनात्मक रूप में कम संख्या में होते हैं क्योंकि उस वजह से सामाजिक विषमता जन्म लेती है और वह लोगों को उनकी ख्वाहिश पालने के लिए प्रेरित करती है। कुछ लोगों के पास दूसरों की तुलना में अधिक धन व संसाधन होते हैं क्योंकि यही उस काम को करने का उनका प्रोत्साहन एवं इनाम होता है जिसे समाज ज्यादा महत्वपूर्ण मानता है तथा ऐसा इसलिए भी होता है क्योंकि इससे दूसरे लोग उसे पाने व करने के लिए भी प्रेरित होते हैं।

बहुत से समाज विज्ञानी सामाजिक विषमता तथा शिक्षा के बारे में इस प्रकार्यवादी व्याख्या से असहमति रखते हैं। यह सही बात है कि लोगों को अपनी भूमिकाएं अदा करने के लिए प्रेरित करने के लिए समाज को कुछ तरीकों की जरूरत होती है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हम आज जो देख रहे हैं वह स्वभाविक रूप से सबसे बेहतर तरीका हो। प्रकार्यवाद के आलोचकों का कहना है कि बहुत ज्यादा सामाजिक विषमता होना तो प्रेरणा के लिए और भी बुरा हो सकता है और दरअसल समाज को नुकसान पहुंचा रहा है। बहुत से लोग यह अंदाजा लगा लेते हैं कि अच्छे कॉलेज में दाखिले का उनके पास अवसर नहीं है और इसीलिए वे शिक्षा ही छोड़ देते हैं। इसे इस तरह भी कहा जा सकता है कि अगर ज्यादातर भारतीय इतने गरीब हैं कि वे अच्छी शिक्षा हासिल करने की कीमत ही नहीं चुका सकते तो इसका अर्थ है कि बहुत से लोगों की सामर्थ्य बर्बाद हो रही है। तो फिर यह बात कैसे कही जा सकती है कि सामाजिक असमानता भारत की जरूरत के हिसाब से काम कर रही है?

यह बात भी कही जाती है कि लोगों को प्रेरित करने के लिए दरअसल बहुत ज्यादा विषमता की जरूरत नहीं होती उसके लिए थोड़ा-सा अंतर होना ही पर्याप्त होता है। फिर ऐसा क्यों है कि कुछ संस्थाओं या निकायों में सबसे शीर्ष पर बैठे व्यक्ति को तो एक करोड़ रुपये से भी ज्यादा तनख़्वाह मिलती है जबकि उसी संस्था या निकाय में सबसे निचले पायदान पर मौजूद व्यक्ति को महज आठ हजार रुपये या इसके आसपास राशि मिलती है। यह समझ से परे है कि उन दोनों के योगदान में इतना भारी फर्क कैसे है (1000:1)। पश्चिमी यूरोप के कुछ देशों में शीर्ष पर बैठे व्यक्ति व एक आम कामगार की तनख्वाह में 30:1 के फर्क को भी लोगों को प्रेरित करने में काफी असरदार पाया गया है। लेकिन इसी अनुपात को संयुक्त राज्य अमेरिका (किआत्पोंग्सन व नॉर्टन 2014) जैसे देश में लोगों को प्रेरित करने के लिए 350:1 होने की जरूरत क्यों होती है? इसी तरह से यह भी कैसे संभव हो पाता है कि बबलगम बनाने वाली एक फैक्ट्री का मालिक तो बहुत-सा धन कमा रहा हो सकता है जबकि एक ईमानदार व सहृदय शिक्षक को दोनों वक्त का भोजन जुटाने में भी संघर्ष करना पड़ रहा हो। यह समझ से परे है कि समाज के लिए बबलगम फैक्ट्री किस तरह शिक्षक की अपेक्षा ज्यादा सार्थक काम कर रही है।

सामाजिक विषमता का संघर्षवादी सिद्धांत

इस दूसरे सिद्धांत का कहना है कि सामाजिक विषमता अपने काम करने के ढंग से होने वाले फायदों की वजह से मौजूद नहीं रहती बल्कि इसलिए मौजूद रहती है कि कुछ समूह दूसरे समूहों पर अपना प्रभुत्व जमाकर उससे फायदा उठाते हैं। यहां जोर सामाजिक वर्गों के बीच संघर्ष पर है। यह संघर्ष जाति, नस्ल व जेंडर/लिंग जैसे अन्य सामाजिक समूहों के बीच भी होता है। कार्ल मार्क्स व मैक्स वेबर जैसे क्लासिकल सामाजिक विचारकों के मुताबिक सामाजिक संघर्ष मानव के सामाजिक जीवन के हर कोने में है। हालांकि सामाजिक संघर्ष व प्रभुत्व को लेकर इन लोगों की समझ थोड़ी अलग-अलग है। मार्क्स और उससे प्रेरित बहुत से लोगों का मानना है कि विषमता पूंजीवाद के भीतर ही मौजूद रहती है। पूंजीवादी उत्पादन दिहाड़ी पर मजदूर जुटाकर किया जाता है। ये मजूदर धन के बदले अपनी मजदूरी उन लोगों को बेचते हैं जिनका पूंजी पर नियंत्रण होता है। जिन लोगों का पूंजी पर नियंत्रण होता है उनके पास ज्यादा सत्ता होती है और उनका बाजार पर भी नियंत्रण होता है। इस तरह वे दिहाड़ी पर मजदूरी करने वालों को अपने बराबर आने से रोके रखते हैं। अगर दिहाड़ी मजदूर उनके बराबर हो गए तो पूंजीपतियों को अपना आदेश मनवाना कठिन

हो जाएगा। इस विपरीत संबंध की वजह से ही कुछ वर्ग दूसरे वर्गों पर अपना प्रभुत्व जमाकर फायदा उठाते रहते हैं और कहा जाता है कि इसी वजह से सामाजिक विषमता बनी रहती है। शिक्षा में काम करने वाले मार्क्सवादी समाजशास्त्रियों का मानना है कि शिक्षा में विषमता इसीलिए मौजूद है कि जिन वर्गों के पास सम्पत्ति अधिक होती है, स्कूलों व कॉलेजों पर प्रभुत्व भी उन्हीं का होता है। इन दौलतमंद व दूसरे का शोषण करने वाले लोगों का वर्गीय हित इसी में है कि कामकाजी वर्ग के लोगों को कम शिक्षित रखा जाए व उन तक गिने-चुने विचार ही पहुंचें। गरीबों के स्कूलों, खासकर सरकारी स्कूलों की हालत खराब इसीलिए हैं कि भारत में सत्ता की बागडोर पूंजीपतियों व उनके मैनेजर मित्रों/साथियों के हाथों में है और गरीबों की शिक्षा को सुधारने में उनकी कोई रुचि नहीं है। गरीबों के स्कूलों को सुधारने में जो निवेश करना होगा उसमें उनके टैक्स का ही पैसा लगेगा। इसके बजाय वे उस धन का उपयोग किसी ऐसे काम में करना चाहेंगे जिसका उन्हें सीधे तौर पर फायदा मिले। जहां तक उनके खुद के बच्चों का सवाल है उन्हें महंगे निजी स्कूल में भेजने के लिए उनके पास पर्याप्त पैसा है।

वर्ग व उत्पादन के साधन

शुरुआत में मार्क्सवादी परंपरा ने वर्ग व वर्गीय हितों के बीच मौजूद भिन्नता के स्रोतों को समझने में जबरदस्त मदद की थी। मार्क्स ने इस ओर ध्यान दिलाया कि समाज में विसंगतियां मौजूद होने का मूल कारण उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण होना है। पूंजीवादी संस्कृति पूरे समाज को लाभ पहुंचाने के बजाय व्यक्तिगत लाभ पर जोर देती है। जब इस संस्कृति के तहत कोई उत्पादन किया जाता है तो उससे होने वाले लाभ वे लोग उठाते हैं जिन लोगों का उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण होता है तथा वे दूसरे लोगों को उन लाभों से वंचित कर देते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में मार्क्स का मानना था कि आधुनिक समाज दो मुख्य वर्गों के बीच बंट रहा है। एक वर्ग वह है जिसका उत्पादन के साधनों पर अधिकार है तथा दूसरा वर्ग वह है जिसके पास सिर्फ अपनी देह है और जिसे बाजार में अपना श्रम बेचकर पहले वर्ग के हित में काम करने के लिए मजबूर किया जाता है। मार्क्स ने *एटीन्थ ब्रूमेर ऑफ लूइस बोनापार्ट* (मार्क्स 1852) जैसे अपने लेखन में कुछ और वर्गों का भी वर्णन किया है किन्तु उनका मुख्य जोर पूंजीपतियों (जिनका उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण था) तथा मजदूरों (जिनके पास उत्पादन के कोई साधन नहीं थे) के बीच बढ़ते तनाव पर ही रहा। जिन लोगों ने इस वर्गीय विश्लेषण का उपयोग शैक्षणिक समस्याओं को समझने में किया है उन्होंने इस ओर ध्यान दिलाया है कि शिक्षा में मौजूद असमानता का सीधा संबंध किस तरह वर्गों के बीच मौजूद तनावों व अंतर्विरोधों से है।

पूंजीपति व मजदूर जैसे सिर्फ दो वर्गों पर जोर देने वाला यह विश्लेषण जिस तरह से औद्योगिक यूरोप के शुरुआती सामाजिक तनावों को समझने में मदद करता है ठीक उसी तरह से वर्तमान भारत को समझने में हमारी उतनी मदद नहीं करता। उदाहरण के लिए, एक प्रबंधक अथवा सरकारी अधिकारी को हम उक्त दोनों में से किस श्रेणी में रखेंगे। वह न तो साफतौर पर कोई पूंजीपति है क्योंकि उसका किसी तरह के उत्पादन के साधनों पर अधिकार नहीं है और उसे मजदूर कहना भी मुश्किल है क्योंकि यह नहीं पता कि उसका शोषण कौन कर रहा है और उसके द्वारा किए जा रहे अतिरिक्त उत्पादन को कौन हड़प रहा है। उसकी आय भी अच्छी खासी हो सकती है और दर्जनों ऐसे मातहत भी हो सकते हैं जो इशारा पाते ही हाजिर हो जाएं। उसका बच्चा महंगे निजी स्कूल में जा रहा हो सकता है। हमारे लिए यह कहना भी मुमकिन नहीं होगा कि वह और उसका परिवार उसी वर्ग से ताल्लुक रखते हैं जिससे उसके ऑफिस में काम करने वाला वह चपरासी रखता है जो अपने लिए दो वक्त की रोजी-रोटी बमुश्किल कमा पाता है और अपने बच्चों को किसी सस्ते से निजी स्कूल में भेजता है।

मार्क्स ने वर्गीय विषमता का अपना सिद्धांत आज से करीब डेढ़ सौ साल पहले गढ़ा था और तब से आज तक समाज लगातार बदलता रहा है। आजकल बहुत से समाजशास्त्री (गोल्डथ्रोप तथा मार्शल 1992, राइट 1995) जिनमें वे भी शामिल हैं जो अपने को मार्क्सवादी कहते हैं, वर्गीय विषमता के सिद्धांत को मार्क्स के विचारों में वेबर के कुछ विचारों को शामिल करते हुए परिभाषित करते हैं। उनका तर्क होता है कि वर्गीय विषमता को परिभाषित करते हुए मार्क्स जब उत्पादन के साधनों के साथ रिश्ते पर जोर दे रहे होते हैं तो वे आज भी सही होते हैं किन्तु एक समग्र तस्वीर

बनाने के लिए हमें इसमें यह बात भी जोड़नी चाहिए कि श्रम के बाजार में किसी व्यक्ति की हैसियत क्या है और उसके पास किस तरह की सत्ता है। शिक्षा किसी व्यक्ति को आर्थिक किस्म की पूंजी उपलब्ध करवाकर पूंजीपति बना दे इसकी संभावना बहुत ही सीमित होती है। इसके बजाय शिक्षा का असर ऐसे समाज में ज्यादा होता है जहां बाजार में किसी व्यक्ति की शैक्षणिक डिग्रियों की मांग की वजह से तथा उसके द्वारा किसी संस्थान में सत्तावान पद पा लेने से सामाजिक वर्ग प्रभावित होता है।

वर्ग तथा बाजार की स्थिति

लगातार बदलते इस बाजार में विभिन्न तरह की क्षमताओं की मांग होती है। इसमें किसी की स्थिति को समझने के लिए हम एक युवा शागिर्द लुहार के उदाहरण की मदद लेते हैं। हो सकता है सौ साल पहले मजदूरों के बीच उसकी स्थिति सम्मानजनक रही हो। लुहार ने एक जबरदस्त हुनर सीखा, उसने गरम लाल धातु को अपने तेज प्रहारों से ऐसी कीमती चीजों में तब्दील किया जिन्हें खरीदने की इच्छा हर कोई रखता था। परन्तु जैसे-जैसे तकनीक बदलती गई इस पुराने लुहार के ज्यादातर ग्राहक उससे दूर होते चले गए। लोग उपकरण खरीदने को तरजीह देने लगे तथा स्थानीय लुहार की बनाई चीजों की जगह फैक्ट्री में बनी चीजें खरीदने लगे। इस तरह उस लुहार व उसके शागिर्द दोनों की मांग बाजार में कम होती चली गई। इसी के बरक्स स्कूली शिक्षा पाया हुआ छात्र सौ साल पहले लुहार की तुलना में कम कमा पाता था किन्तु आज की स्तरीकृत व्यवस्था में उसकी स्थिति काफी बेहतर हो गई है। आज स्कूल के उत्पाद लुहार की तुलना में ज्यादा मांग में हैं तथा उनकी कीमत भी ज्यादा मिलती है। स्कूल व पारंपरिक दस्तकारों के उत्पाद के बीच के इस वर्ग भेद को मात्र श्रम व पूंजी के विचार के आधार पर समझना मुमकिन नहीं है। ये दोनों ही कामगार हो सकते हैं किन्तु फिर भी उनका वर्ग अलग-अलग हो सकता है। लुहार भी दूसरे लोगों जितनी ही मेहनत कर रहा हो सकता है किन्तु बाजार का चरित्र व इसकी मांग आज बदल गई हैं।

शिक्षा का महत्वपूर्ण योगदान यह होता है कि वह छात्रों को ऐसा ज्ञान हासिल करने में मदद करती है कि श्रम के बाजार में उनकी मांग बनी रहती है। एक ऐसे समाज में जहां इंजीनियरिंग का ज्ञान रखने वाले लोगों की बहुत जरूरत है वहां शिक्षा छात्रों को यह ज्ञान उपलब्ध करवाती है और इस तरह वह उनके वर्ग की हैसियत में बदलाव ला देती है। किन्तु जब इसी ज्ञान को रखने वाले बहुत से लोग हो जाते हैं तो उनकी पूर्ति बढ़ जाती है तथा बाजार में मांग घट जाती है और इस तरह उनके वर्ग की हैसियत भी कम हो जाती है। आज की दुनिया में शिक्षा व वर्ग के बीच के रिश्ते को समझने के लिए मार्क्स के इस सवाल के साथ ही कि व्यक्ति का उत्पादन के साधनों के रिश्ता क्या है, यह समझना भी बेहद जरूरी है कि बाजार में उसकी मांग व पूर्ति किस तरह की है।

सत्ता, वर्ग व शिक्षा

वेबर का दूसरा बड़ा योगदान वर्ग व शिक्षा की समझ में उनके द्वारा की गई सत्ता के अध्ययन से आया है। उनके हिसाब से वर्गीय ढांचे का संबंध सत्ता के कम या ज्यादा होने से भी हो सकता है। जिन लोगों के पास पैसा अधिक होता है उनके पास सत्ता भी अधिक होती है। वेबर की बात मानें तो इसका आशय है कि उनके पास अपने मन की चाहत या इच्छा को पूरा करने की सामर्थ्य होती है। जिस व्यक्ति के पास पैसा ज्यादा होता है वह ढेर सारी किताबें खरीद सकता है, बेहतरीन शिक्षा देने वाले महंगे स्कूल की फीस अदा कर सकता है। उसकी तुलना में कम पैसे वाला व्यक्ति ऐसा करने में अपने को तब तक निस्सहाय महसूस कर सकता है जब तक कि सरकार या कोई अन्य तंत्र मुफ्त पुस्तकालय चलाने या मुफ्त शिक्षा देने के लिए आगे नहीं आते। सत्ता अक्सर किसी दूसरे की सत्ता की कीमत पर हासिल की जाती है। हालांकि हमेशा ही ऐसा होता हो यह जरूरी नहीं। जैसे शहरी शिक्षित लोगों खासकर प्रबंधकों/मैनेजरों व व्यावसायिक लोगों की सत्ता बढ़ने लगती है, हम पाते हैं कि शिक्षा व्यवस्था उनकी जरूरतों व आकांक्षाओं के अनुरूप ढलने लगती है। इसके विपरीत किसानों व कृषि मजदूरों की जरूरतों को दरकिनार किया जाने लगता है। यह बात सही है कि सदा ऐसा ही होता हो जरूरी नहीं किन्तु इस बात की संभावना हमेशा बनी रहती है।

यह विचार हमें यह सोचने को बाध्य करता है कि जहां भी दो लोग होंगे उनकी प्राथमिकताओं में फर्क होगा। दूसरे शब्दों में कहें तो किसी न किसी तरह का द्वंद्व या टकराव होगा। इसका मतलब है कि जहां भी दो व्यक्ति होंगे वहां किसी न किसी तरह के सत्ता संघर्ष की संभावना रहेगी। असहमतियां कोई चौंकाने वाली चीज नहीं हैं बल्कि जीवन की एक जरूरी सच्चाई हैं। कुछ लोग इस बात से यह निष्कर्ष निकालते हैं कि दूसरों पर दाब-धौंस या आधिपत्य जमाना और उन्हें हमारी अपेक्षाओं का अनुसरण करने के लिए बाध्य करना सामाजिक जीवन का महत्वपूर्ण हिस्सा है तथा हमें किसी एक पर दूसरे के आधिपत्य को बढ़ावा देने की कोशिश हमेशा करते रहनी चाहिए। हालांकि कुछ अन्य लोगों का मानना है कि दूसरों के साथ संवाद स्थापित करना, उनके साथ सम्मान व गरिमा के साथ बर्ताव करना ही विषमता के साथ निपटने का तरीका होता है। दूसरों को नियंत्रित करने व ऐसा करने की कोशिश करने की जरूरत बहुत कम होती है। तो फिर बच्चों को क्या सिखाया जाना चाहिए- यही कि उन्हें सदा वर्ग व सत्ता के पायदानों पर ऊपर चढ़ने की कोशिश करते रहनी चाहिए और दूसरों को अपने पैरों तले कुचल देना चाहिए? या फिर इस बात का कोई मतलब बनता है कि शिक्षा के जरिए अलग-अलग तरह की नैतिकता व अपेक्षा विकसित करने की कोशिश की जानी चाहिए। सत्ता की सामाजिक समझ की तरफ से एक महत्वपूर्ण नैतिक सवाल खड़ा किया जाता है वह यह कि: अगर सत्ता इतनी आम और सर्वव्यापी है तो क्या लोगों पर धौंस या आधिपत्य जमाने की इच्छा स्वभाविक व अपरिहार्य है? या लोगों से प्यार करने, उनके साथ समता व बराबरी के रिश्ते बनाने, उनके साथ अच्छा बर्ताव करने की इच्छा स्वभाविक है? कुछ लोग इसमें से पहली को महत्व देते हैं तो कुछ दूसरी को। शायद प्रकृति ने हमें यह क्षमता दी है कि हम दोनों तरह के हो सकते हैं। हम कैसा होना चुनते हैं यह हम जिस संस्कृति में पले-बढ़े हैं उस पर व हमारे सामाजिक नज़रिए पर निर्भर करता है। दोनों ही सत्ता के रूप हैं मगर उनकी शैली व पड़ने वाले प्रभाव अलग-अलग होते हैं।

इस बहस को समझने के लिए इस बात को समझना महत्वपूर्ण होगा कि सत्ता भी विभिन्न प्रकार की होती है। एक होती है विवश कर देने वाली सत्ता जिसके तहत किसी को कोई बात मानने को मजबूर किया जाता है अन्यथा परिणाम भुगतने का डर दिखाया जाता है। शिक्षक किसी बच्चे को गृहकार्य करने की धमकी इसी तरह देते हैं अन्यथा इसका परिणाम सबके सामने अपमानित होना होता है। दूसरी तरह की सत्ता विकल्प उपलब्ध करवाकर स्थापित की जाती है। इसके तहत बच्चों को कुछ ऐसे विकल्प दिए जाते हैं जिनमें से गृहकार्य करना ही सर्वश्रेष्ठ विकल्प होता है। बाजार को स्थापित करने वाली सत्ता इसी प्रकार की होती है। इसके तहत रोजगार पाने के लिए सबसे बेहतर विकल्प के तौर पर बड़े कार्पोरेशन ही रह जाते हैं क्योंकि पिछले समय में लिए गए नीतिगत निर्णयों की वजह से कृषि क्षेत्र व सरकारी नौकरियां व्यावहारिक विकल्प नज़र नहीं आते हैं। यहां ऐसा लगता है जैसे कोई अपनी इच्छा से चुनाव कर रहा है किन्तु यह भी एक तरह की सत्ता के प्रभाव में ही किया जा रहा है।

वेबर ने नौकरशाही व करिश्माई सत्ता के बीच जो फर्क किया था वह बहुत प्रसिद्ध है। भौगोलिक अर्थव्यवस्थाएं जिस तरह से विकसित हो रही हैं उनमें ज्यादा से ज्यादा उत्पादन व उसका वितरण व्यापक स्तर पर नौकरशाही के तहत हो रहा है। लोग एक खास तरह का काम करने वाली नौकरशाही में कोई पद हासिल करके सत्ता हासिल करते हैं। छात्र एमबीए करना चाहते हैं क्योंकि इसकी वजह से वे नौकरशाही में ऊंचे वर्ग में पहुंच सकते हैं। ऐसा सिर्फ पैसे की वजह से ही नहीं होता बल्कि इसलिए भी होता है कि एक इंजीनियर की तुलना में बतौर प्रबंधक उनका अपने काम व जीवन पर अधिक नियंत्रण होता है क्योंकि इंजीनियर तो खुद उनके प्रति उत्तरदायी होता है। जब कोई व्यक्ति प्रबंधक अथवा शिक्षक के तौर पर अपनी नौकरी शुरू करता है तो नौकरशाही में अपने पद की स्थिति की वजह से स्वतः ही बहुत सारी सत्ता हासिल कर लेता है। इसे नौकरशाही सत्ता कहते हैं। व्यक्ति के स्वयं सत्ता का स्रोत होने के बावजूद दूसरों का प्यार व सम्मान पाने के लिए सिर्फ इसका होना ही काफी नहीं होता। वेबर ने दूसरे प्रकार की सत्ता भी बताई थी जिसे करिश्माई सत्ता कहा था। यह व्यक्ति के पास नौकरशाही में उसके पद की वजह से नहीं होती बल्कि अपने सहकर्मियों व छात्रों के साथ उसके अपने व्यवहार के कारण होती है। शिक्षक के काम की चुनौती यही है कि उसे नौकरी तो नौकरशाही के तहत मिलती है और वह इस नौकरशाही सत्ता के तहत ही कक्षा में पढ़ाता है किन्तु बेहतरीन शिक्षण तभी हो पाता है जब कोई शिक्षक करिश्माई सत्ता पैदा करने में समर्थ हो जाता है।

लोगों में सत्ता की इस समझ का महत्व तब प्रकट होना शुरू होता है जब हम एक व्यापक नौकरशाही में बहुत से लोगों को काम करते हुए देखते हैं। उदाहरण के लिए, एक इंजीनियर किसी नई कंपनी में जॉइन करता है और वह उसके सत्ता के ढांचे में सबसे निचले पायदान पर होता है। वह ऐसा व्यक्ति है जिसे सबसे ज्यादा आदेश दिए जाते हैं और जो अपने काम व समय को परिभाषित करने के मामले में बहुत कम स्वतंत्रता व स्वायत्तता होने की वजह से प्रायः सबसे ज्यादा तकलीफ में रहता है। इस ढांचे में सबसे ऊपर मौजूद व्यक्ति ही शायद वह व्यक्ति है जिसके पास सबसे ज्यादा सत्ता है और इस वजह से उसके पास अपने काम की गति व प्रकृति को नियंत्रित करने की स्वायत्तता सबसे ज्यादा है। आज के इस भारत में अभी-अभी नई कंपनी जॉइन करने वाला व पन्द्रह मासिक तनख़्वाह पाने वाला वह इंजीनियर सतही तौर पर ही उस वर्ग में है जिसमें डेढ़ लाख तनख्वाह पाने वाला प्रबंधक है। वे दोनों ही शिक्षित हो सकते हैं, उन दोनों के ही पास डिग्री हो सकती है। किन्तु उनके बीच उनकी बाजार स्थिति की वजह से व उन्हें हासिल सत्ता की वजह से बहुत बड़ा फर्क है।

भारतीय औद्योगिक व सेवा क्षेत्रों में वर्गीय संबंध

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में जब मार्क्स औद्योगिक वर्गीय रिश्तों का विश्लेषण करने की कोशिश कर रहे थे तब पूंजी पर हक रखने वाले या बुर्जुआ तथा अपने पास मात्र श्रम की पूंजी रखने वाले सर्वहारा वर्ग ही उन्हें इसके लिए सबसे उचित लगे। मार्क्स के लगभग डेढ़ सदी बाद दुनिया का वर्गीय ढांचा काफी हद तक विकसित होकर बदल गया है। दूसरी चीजों के साथ-साथ दुनिया के कई देशों में सेवा क्षेत्र, उत्पादन व उद्योग से भी बड़ा हो गया है। मार्क्स के समय में प्रबंधक जैसे पद का अस्तित्व तक नहीं था जो आज के समय की एक खासियत बन चुका है। बीसवीं सदी के मध्य से ही विश्लेषक (बुर्नहम, 1941) यह कहने लगे थे कि अब दुनिया के सत्ता के ढांचे की लगाम प्रबंधकों के हाथों में है और मालिकों के बजाय उनका ही उद्योग पर नियंत्रण है। हो सकता है ऐसा कहकर उनकी भूमिका को कुछ ज्यादा ही तवज्जो दे दी गई हो किन्तु इस सबके बावजूद इसमें कोई शक नहीं है कि जिसे मध्यस्थ की भूमिका निभाने वाला कहा जाता है ऐसा प्रबंधक का यह वर्ग आज की शिक्षा व्यवस्था का महत्वपूर्ण उत्पाद है और पिछली सदी में अस्तित्व में आए नए वर्गीय ढांचे में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। शिक्षा व्यवस्था जिस तरह से काम करती है उस वजह से यह वर्गीय ढांचे के साथ बहुत सघनता के साथ बंधी है। यह वर्ग के आधार पर बनी है और खुद भी वर्गीय विषमता को विकसित करने में मदद करती है। किसी समय शिक्षा का मूल काम सभ्य व्यक्ति का निर्माण करना था। और इस तरह बाजार की मांग के हिसाब से किसी को सत्ताधारी अथवा संसाधनों से पूर्ण बनाने में इसका योगदान बहुत नहीं था। आज के समय में व्यक्ति को सभ्य बनाने के विचार के साथ-साथ शिक्षा हमारी विभिन्न वर्गीय स्थितियों को तय करने में भी अपनी भूमिका निभाती है। यह वर्गीय व्यवस्था का हिस्सा बन जाती है तथा इसे केवल व्यक्ति के आध्यात्मिक या बौद्धिक विकास के स्रोत के तौर पर नहीं समझा जा सकता।

आज की दुनिया में और खासकर भारत में हम वर्गीय ढांचे के सबसे शक्तिशाली तबके के तौर पर बड़े पूंजीपतियों व प्रबंधकों को आगे आता हुआ देख रहे हैं। वे संख्या में कम होने के बावजूद राजनैतिक निर्णयों को बहुत ज्यादा प्रभावित कर रहे हैं। पिछली सदी में उद्योग व राज्य के बीच गठबंधन मजबूत से मजबूत होता गया है तथा बाजार की मुक्ति के सारे दावों के बावजूद छोटे, मध्यम व बड़े पूंजीपति के लिए सरकार की मदद व संरक्षण के बिना काम करना असंभव है। प्रबंधक श्रमिकों का इस तरह दोहन करना चाहते हैं कि मालिकों को लाभ पहुंचाने वाली चीजों व सेवाओं का उत्पादन हो और उनकी खुद की तनख़्वाहें बढ़ती रहें। कार्मिकों को शोषण से बचाने वाले कायदे-कानूनों को पिछले तीन दशकों में हमने धीरे-धीरे कमजोर होते हुए देखा है। राज्य द्वारा संचालित नीतियों की वजह से नियमित कर्मचारियों की संख्या न के बराबर बढ़ रही है जबकि अनियमित व ठेके पर काम करने वाले कर्मचारियों की संख्या में तेजी से इज़ाफा हुआ है। ऐसे लोग ज्यादा असुरक्षित होते हैं तथा प्रबंधकों द्वारा नियंत्रित किए जाने व मालिकों द्वारा शोषित किए जाने के लिए अभिशप्त होते हैं।

प्रबंधक व अन्य शिक्षित वर्ग को बनाने में स्कूल, कॉलेज व विश्वविद्यालयों की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। भारत के वर्गीय ढांचे में ये अभी भी अल्पसंख्यक ही हैं किन्तु फिर भी इन्होंने वर्चस्व हासिल कर लिया है। ये वर्ग जिस नज़र

से दुनिया को देखते हैं पाठ्यचर्याओं को उससे प्रभावित किया जा रहा है। एक शिक्षित व्यक्ति कैसा होना चाहिए उसे क्या करने में समर्थ होना चाहिए उस बारे में ये जैसा सोचते हैं उस हिसाब से शिक्षा के उद्देश्यों को प्रभावित किया जा रहा है। एक तरफ नया वर्गीय ढांचा जहां नए अवसरों के रास्ते खोल रहा है वहीं दूसरी ओर कई मायनों में यह उसे सीमित भी कर रहा है। शिक्षा को एक स्वतंत्र सांस्कृतिक शक्ति के तौर पर नहीं देखा जा सकता। यह विभिन्न वर्गों के अलग-अलग हितों को साधने के लिए उनके दबाव में आती रहती है। मालिकों व प्रबंधकों की नज़र में शिक्षा के उद्देश्य उन उद्देश्यों से काफी अलग हो सकते हैं जो श्रमिकों की नज़र में होते हैं। प्रबंधकों की भी एक अपेक्षा ''कौशल आधारित शिक्षा'' की हो सकती है ताकि उसके जरिए बेहतर श्रमिक पैदा किए जा सकें तो दूसरी अपेक्षा इससे भिन्न उन स्कूलों को लेकर हो सकती है जिनमें वे अपने बच्चों को भेजना चाहेंगे। यहां यह नहीं कहा जा रहा है कि शिक्षा की स्वयं की कोई आवाज व मुद्दा नहीं हो सकता, वह हो सकता है और होता है किन्तु उसे वर्गीय ढांचे द्वारा डाले जा रहे दबावों से निपटते रहने की लगातार जरूरत रहती है।

शिक्षा के उत्पादों को रोजगार के उस बाजार से निपटना होता है जो मौजूद वर्गीय ढांचा उपलब्ध करवा रहा होता है। उदाहरण के लिए, हम एक ऐसे वर्गीय ढांचे को बनाए रखते हैं जिसमें सम्पत्ति या दौलत ऊपरी स्तर पर इकट्ठी होती रहती है और इसे निचले तबके के साथ साझा नहीं किया जाता है तो फिर 100 प्रतिशत नामांकन वाले स्कूलों से निकलने वाले छात्र रोजगार के लिए कहां जाएंगे? ऐसे में बेरोजगारी या अल्परोजगार की बढ़ती स्थिति सामाजिक अशांति पैदा कर सकती है। इसका एक विकल्प यह हो सकता है कि गरीबों को शिक्षा उपलब्ध ही न करवाई जाए ताकि सत्ताधीशों, दौलतमंदों के लिए परिस्थिति शांतिपूर्ण व राजनैतिक रूप से सुरक्षित बनी रहे। किन्तु इस तरह तो हमारे न्याय व बराबरी के आदर्शों की बखिया उधड़ जाती है।

जब हम भारत के संदर्भ में कृषि क्षेत्र व विभिन्न शिक्षित वर्गों के बीच मौजूद पर्तों पर नज़र डालते हैं तो पाते हैं कि वर्गीय गतिशीलता की तस्वीर व शिक्षा के साथ इनके रिश्ते और भी जटिल हैं। इस पर अगले लेख में चर्चा करेंगे। ◆

संदर्भ

Burnham, J. (1941). The managerial revolution: what is happening in the world. New York: John Day Co.

Davis, K., & Moore, W. E. (1945). Some Principles of Stratification. American Sociological Review, 10(2), 242-249.

Dharampal. (1983). The beautiful tree: indigenous Indian education in the eighteenth century. New Delhi: Biblia Impex.

Goldthorpe, J. H., & Marshall, G. (1992). The promising future of class analysis: a response to recent critiques. Sociology, 26(3), 381-400.

Kiatpongsan, S., & Norton, M. I. (2014). How Much (More) Should CEOs Make? A Universal Desire for More Equal Pay. Perspectives on Psychological Science, 9(6), 587-593.

Marx, K. (1852). The eighteenth brumaire of Louis Bonaparte. Champaign, Ill.: Project Gutenberg. Retrieved from http://www.gutenberg.org/files/1346/1346-h/1346-h.htm

Wright, E. O. (1996). Class Counts: Comparative Studies in Class Analysis. Cambridge University Press.

Wright, E. O. (2005). Foundations of a Neo-Marxist Class Analysis. In E. O. Wright (Ed.), Approaches to class analysis (pp. 1-26). Cambridge: Cambridge University Press.

लेखक परिचयः जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली से एमफिल एवं पीएचडी करने के बाद एकलव्य, हौशंगाबाद के साथ लगभग 3 वर्ष तक कार्य किया। इसके उपरान्त आईआईटी, कानपुर में समाजशास्त्र का अध्यापन किया। वर्तमान में अजीम प्रेमजी यूनीवर्सिटी, बैंगलोर में समाजशास्त्र के प्रोफेसर हैं।

भाषान्तरः प्रमोद पाठक

नए दौर में स्कूली शिक्षिकाएं

कुछ प्रारंभिक विचार

नंदिनी मांजरेकर

“आज के दौर में भारत में शिक्षा के क्षेत्र में आमूलचूल परिवर्तन की लहर चल रही है। इसी समय में बड़ी संख्या में शिक्षिकाएं इस क्षेत्र से जुड़ रही हैं। इस लेख में नवउदारवादी नीतिगत सुधारों के परिणामस्वरूप पैदा हुई उन तार्किक व भौतिक परिस्थितियों के बारे में चर्चा की गई है जो आज इन स्कूली शिक्षिकाओं के जीवन को गढ़ रही हैं व पुनर्परिभाषित कर रही हैं।”

इस लेख में नारीवादी नज़रिए से सवाल खड़ा किया गया है। सवाल यह है कि हम इस ‘नए दौर’ में स्कूली शिक्षिकाओं के काम व जीवन को समझते कैसे हैं? यहां ‘नए दौर’ से आशय सन् 1990 के बाद के आर्थिक बदलावों के कारण सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक रिश्तों में आए और आ रहे बदलावों से है। पिछले दो दशकों के दौरान आए नवउदारवादी सुधारों ने सार्वजनिक स्कूलों द्वारा कुशलतापूर्वक शिक्षा देने में असमर्थ रहने के विचार को हवा दी है। यह लेख सार्वजनिक शिक्षा से संबंधित नवउदारवादी विमर्श, शिक्षा के क्षेत्र में हर स्तर पर राज्य द्वारा बाजारवादी सुधारों की दिशा में किए जा रहे बदलावों और स्कूली शिक्षिकाओं की जिन्दगियों के बीच एक संबंध देखता है।

यहां मैंने जो सवाल उठाए हैं वे इस मान्यता पर टिके हैं कि भारत में शिक्षा के क्षेत्र में हो रहे आमूलचूल परिवर्तनों के इस क्षण में स्कूली शिक्षा की दुनिया में महिलाएं बड़ी संख्या में आ रही हैं और ऐसे में उनकी स्थिति जटिल व बोझ से लदी-फदी होती जा रही है। हमारे पास व्यापक और सूक्ष्म दोनों स्तरों पर इस बात की समझ बहुत कम है कि सवैतनिक रोजगार क्षेत्र के तौर पर स्कूली दुनिया के भीतर उनका गठन किस तरह किया जाता है। स्थान (ग्रामीण/शहरी या अर्द्ध-शहरी) की बात हो या फिर ऐतिहासिक रूप से गहरे बैठी स्तरीकृत व्यवस्था की, हमारे पास शिक्षिकाओं को लेकर किए गए परिस्थिति विश्लेषण कम ही उपलब्ध हैं। उत्तर सुधारवादी समय में स्कूलों को निजी गैर-सहायता प्राप्त स्कूल, निजी-सार्वजनिक प्रबंधन के तहत चलने वाले राज्य के स्कूल, कम फीस वाले निजी स्कूल, कस्तूरबा गांधी बालिका आवासीय विद्यालय, धनाढ्य इंटरनेशनल स्कूल आदि के नाम पर न सिर्फ नए-नए वर्गों में बांटा जा रहा है बल्कि उनके बीच के फर्क को और गहरा किया जा रहा है तथा शैक्षिक सुधार जैसे व्यापक शीर्षक के तहत इन्हें नियंत्रण की नई व्यवस्था की तरफ धकेला जा रहा है। हम महिलाओं के अपने वर्ग, जाति, नस्ल और धर्म संबंधी पहचान को लेकर स्कूल में होने वाले उनके अनुभवों के बारे में भी बहुत कम जानते हैं।

यह लेख इस बात पर बल देता है कि हमें सामाजिक पुनरुत्पादन की व्यापक प्रक्रियाओं को समझने के लिए शिक्षिकाओं की पेशेवर व निजी जिन्दगियों के बारे में नारीवादी नज़रिए से और गहाराई से समझ विकसित

करने की जरूरत है। इस तरह की पड़ताल सार्थक होगी क्योंकि एक तरफ तो स्कूली शिक्षिकाओं को स्कूल व परिवार दोनों जगहों पर श्रम करने के हिसाब से तैयार किया जा रहा है जबकि दूसरी ओर इन दोनों ही जगहों पर उनके जीवन के जेंडर संबंधी पहलुओं को आर्थिक बदलावों के आधार पर बदला व पुनर्परिभाषित किया जा रहा है। सामाजिक पुनरुत्पादन व नियंत्रण में शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका को देखते हुए तथा राज्य के साथ इसके रिश्ते के महत्व को समझते हुए एवं आधुनिक समाज में पहचान के निर्माण के साथ जुड़े इसके आर्थिक व वैचारिक संबंधों को देखते हुए शिक्षा की दुनिया के बारे में यह जानना महत्वपूर्ण हो जाता है कि सुधारों के इस विमर्श में महिलाएं आखिरकार कहां स्थित हैं। सामाजिक पुनरुत्पादन से संबंधित जो वैचारिक ढांचा या रूपरेखा है वह इस तरह की पड़ताल करने के लिए उपयोगी रहती है क्योंकि इसकी मदद से हम शिक्षिकाओं की जिन्दगी पर सुधारों के पड़ने वाले तार्किक व भौतिक प्रभावों को जांच सकते हैं और जान सकते हैं कि वे पुनरुत्पादन की इन दो महत्वपूर्ण जगहों- परिवार व स्कूल के साथ किस तरह समझौता करती हैं।

महिलाएं, शिक्षा व सामाजिक पुनरुत्पादनः एक सत्ता बनी रहने वाली बेचैनी

भारत में स्कूली शिक्षिकाओं के काम, उनकी जिन्दगी व औपचारिक शिक्षा की पड़ताल नारीवादी नज़रिए से अभी तक लगभग नहीं हुई है। हमारे यहां जेंडर व स्कूली पाठ्यचर्या जैसे मुद्दों पर नज़र आने वाली सक्रियता बहुत पुरानी बात नहीं है। शुरुआत में यह सक्रियता हिन्दुवादी-दक्षिणपंथियों के शिक्षा संबंधी एजेंडे व महिला को पुनर्परिभाषित करने के एजेंडे को एक जवाब के तौर पर दिखाई देती है जो आगे चलकर राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 विकसित करने के लिए चली प्रक्रियाओं में अवसर मिलने पर पाठ्यचर्या संबंधी नीतियों के संदर्भ में और गहराई ले लेती है। यह सब होने के बावजूद यह कहना पड़ेगा कि वर्तमान संदर्भ में नारीवादी विमर्श के अन्तर्गत आने वाले शिक्षा व समाज के बीच के महत्वपूर्ण रिश्ते जैसे- राज्य की भूमिका, वर्ग, नस्ल जाति, जेंडर, विषमता का सामाजिक पुनरुत्पादन, ज्ञान की राजनीति, श्रम व यौनिकता आदि अनछुए ही रह गए हैं। इसलिए यह जरूरी हो जाता है कि हम शिक्षा को नारीवादी नज़रिए से जांचने का काम करें और शिक्षा के क्षेत्र को व्यापक सामाजिक व सांस्कृतिक पुनरुत्पादन के हिस्से के रूप में देखें।

हमारी यह कोशिश हमारा सामना महिला-शिक्षा के एक मुख्य अंतर्विरोध से करवाती है। वह यह कि महिलाओं को नारीवादी चेतना के बिना शिक्षित करना ज्यादा आसान है। राज्य (परिवार) जेंडर (या वर्ग/जाति/नस्ल आदि) के मुद्दे की बात न करने वाली महिला-शिक्षा को अपना सकता है 'ताकि महिलाएं परिवार के वर्तमान ढांचे की अर्थव्यवस्था में अपना बेहतर योगदान कर सकें और उनका शिक्षित होना यथास्थितिवाद को बनाए रख सके। ताकि सत्ता व वर्चस्व की सारी मूलभूत संरचनाएं बनी रहें। इस नज़रिए से अगर शिक्षण को एक जेंडर आधारित आग्रह से युक्त श्रम के तौर पर देखना शुरू करें तो यह हमारे विश्लेषण में कई पहलू जोड़ देता है। जैसे कि इस बात को महसूस कर पाना कि शिक्षकों की जगह जब शिक्षिकाएं लेने लगती हैं तो कार्यक्षेत्र में सत्ता के ध्रुवों व केन्द्रों में हुए बदलावों की वजह से काम के स्वरूप में बदलाव आ जाता है। यह इस वजह से भी होता है कि महिलाएं वैतनिक/अवैतनिक श्रम के तौर पर एक से ज्यादा जगहों पर काम कर रही होती हैं- महिलाओं के लिए यह दूसरी जगह घर होता है।

समाज की व्यापक संरचनाओं में महिला शक्ति का अभाव होने की वजह से शिक्षिका से सत्ता का जिस तरह का प्रतिपक्ष रचने की उम्मीद की जाती है उसकी जगह शिक्षिका एक 'असंभव-सी कल्पना' में तब्दील हो जाती है। यह अंसभव-सी कल्पना शिक्षिकाओं के प्रति जेंडर आग्रह की वजह से पैदा होती है। यह आग्रह उन्हें पालन-पोषण की धारणा के जाल में फंसा देता है। इसके तहत शिक्षिकाओं को स्कूली शिक्षा की दुनिया के साथ इस विचार के साथ जोड़ दिया जाता है कि महिलाओं में बच्चों की देखभाल करने की एक स्वभाविक क्षमता होती है। इसलिए यह आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि दुनिया में शिक्षिकाओं की सबसे ज्यादा संख्या प्राथमिक व पूर्व-प्राथमिक स्तर पर पाई जाती है।

दूसरी दिक्कत शिक्षिकाओं के महिला-शिक्षा के साथ के रिश्ते की वजह से पैदा होती है। आजाद भारत में औपचारिक शिक्षा के विस्तार के कारण महिलाओं के लिए रोजगार के अवसर बढ़ रहे थे। महिलाएं शिक्षा हासिल कर रही थीं और वैतनिक रोजगार के लिए सार्वजनिक क्षेत्र से जुड़ रही थीं। किन्तु वे सिर्फ शिक्षा जैसे पेशे से ही ज्यादा जुड़ रही

थीं जिसका संबंध 'पालन-पोषण' की धारणा से था। यह विकास के जेंडर समता के उद्देश्य को हासिल करने का एक साधन तो था किन्तु यह नारीवादियों को परेशान किए रहती थी। क्योंकि यह बात स्कूल को वैतनिक रोजगार पाने के ऐसे क्षेत्र के तौर पर वैधानिकता प्रदान करता है जहां जेंडर का सामाजिक पुनरुत्पादन बरकरार रहता है।

अभी ऐसे बहुत से मुद्दे हैं जिनका विश्लेषण किया जाना बाकी है। जैसे कि शिक्षा की वह कौनसी व्यापक राजनैतिक अर्थव्यवस्था है जिसके अंतर्गत शिक्षित महिलाएं स्कूली शिक्षा के क्षेत्र में रोजगार तलाश रही हैं? नीतिगत सुधारों ने कार्यस्थल के तौर पर स्कूल के सामाजिक व आर्थिक चरित्र को किस तरह से पुनर्परिभाषित किया है और उसके भीतर सामाजिक संबंधों को किस तरह पुनर्परिभाषित किया है? इन चर्चाओं में जेंडर को लेकर क्या नज़रिया है? शिक्षा, परिवार तथा जेंडर के बीच बनते हुए वे नए रिश्ते कौनसे हैं जो शिक्षिकाओं के जीवन को प्रभावित कर रहे हैं?

पहले व आज के दौर में स्कूली शिक्षा व महिलाएं

शिक्षिकाएं घर और स्कूल दोनों जगहों पर सामाजिक पुनरुत्पादन की दोहरी भूमिकाएं निभा रही होती हैं और यह भूमिकाएं जो कि मूलतः देखभाल या पालन-पोषण करने से संबंधित श्रेणी की होती हैं उनकी पहचान के साथ दोनों ही जगहों पर निरंतर चिपकी रहती हैं। महिलाओं को शिक्षा से जोड़ने के पीछे इस तरह की मान्यताएं औपनिवेशिक काल से ही नीतियों के केन्द्र में चली आ रही हैं। स्वतंत्रता के बाद शिक्षा का विस्तार होने की वजह से, खासतौर पर शिक्षा के सार्वजनीकरण पर जोर देने की वजह से तथा लड़कियों को शिक्षा से जोड़ने की वजह से नीतियों का जोर बड़ी संख्या में शिक्षिकाएं नियुक्त करने पर रहा है।

सन् 1950 से ही शिक्षिकाओं की संख्या में तेजी से इजाफा हुआ है। 2010-2011 के डाइस के आंकड़े बताते हैं कि स्कूली स्तर पर शिक्षिकाओं की संख्या 45 प्रतिशत तक पहुंच गई है। 2008-2009 डाइस के आंकड़े बताते हैं कि गांवों में एक तिहाई संख्या शिक्षिकाओं की है तथा शहरों में यह आंकड़ा 65 प्रतिशत है। 1980 के बाद शुरू हुए ऑपरेशन ब्लैक बोर्ड, डीपीईपी, सर्वशिक्षा अभियान आदि जैसे शिक्षा में सुधार संबंधी कार्यक्रमों के बाद शिक्षिकाओं की संख्या में बहुत तेजी से इजाफा हुआ है। कुछ राज्यों मे जहां 50 प्रतिशत शिक्षिकाओं के लिए आरक्षण है वहां तो शिक्षिकाओं की संख्या में काफी बढ़ोतरी हुई है। कई राज्यों में तो कुल शिक्षकों में से आधी संख्या शिक्षिकाओं की है। आंकड़े यह भी बताते हैं कि सरकार से अनुदान नहीं ले रहे निजी स्कूलों में शिक्षिकाओं का प्रतिशत ज्यादा है। यही बात कांट्रेक्ट या संविदा से भरे जाने वाले शिक्षकों के पदों के संदर्भ में भी सही है और यह दोनों ही जगहें कम वेतन वाली व असुरक्षित रोजगार देने वाली हैं।

2008-09 डाइस आंकड़ों के विश्लेषण वाली रिपोर्ट देखें तो पता चलता है कि स्कूलों में शिक्षिकाओं की बड़ी संख्या 25 से 45 साल के बीच की उम्र की है। इस बात का असर बहुत से गंभीर मुद्दों पर पड़ता है। एक ऐसी व्यवस्था में जहां सत्ता व प्रशासन पुरुषों के हाथ में हो (प्रधानाचार्य व प्रधानाध्यापक के पदों पर महिलाओं की संख्या बेहद कम है) वहां शिक्षिकाओं को अपनी सेवा शर्तें तय करने में, अपनी रोजगार संबंधी भावी संभावनाओं को तय करने में, मातृत्व अवकाश व बच्चों की देखभाल के संबंध में कोई निर्णय लेने में काफी कठिनाई आती है। इस उम्र की महिलाएं अपने घरों में शादी करने, बच्चे पालने, परिवार संभालने व परिवार के साथ स्थानांतरित होने जैसे बहुत से मुद्दों से जूझ रही होती हैं।

वर्तमान समय में शैक्षिक नीतियां व उनका क्रियान्वयन तीन अलग-अलग पहलुओं का मिलान बिन्दु बनकर उभरता है। ये तीन पहलू हैं बाजार, स्कूल तथा शिक्षक। इनका मिलान बिन्दु द्वंद्वात्मक रिश्ते वाली एक ऐसी मैट्रिक्स तैयार करता है जिसकी मदद से हम आज के समय में शिक्षिकाओं के काम को समझ सकते हैं।

पहला पहलू है बाजार को लेकर चलने वाला विमर्श। इसका संबंध अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर होने वाले आर्थिक सुधारों की वजह से पैदा होने वाली मांग को पूरा करने के लिए हमारी शिक्षा व्यवस्था में बदलाव लाने से है। इसका उद्देश्य हमारी शिक्षा व्यवस्था में बाजारोन्मुखी बदलावों को सांस्थानिक जामा पहनाना है। साथ ही इसकी दक्षता व उत्पादकता को बढ़ाना है। इसके साथ हमारी शिक्षा व्यवस्था में 'नई किस्म की प्रबंधन व्यवस्था' का जन्म हुआ है, जिसका मुख्य लक्षण

नई तरह का सार्वजनिक प्रबंधन है। यह निजी क्षेत्र के प्रबंधन का मॉडल है जो सार्वजनिक संस्थानों में घुलमिल गया है। बाजार की इस शब्दावली में शिक्षक एक 'सेवा प्रदाता' है और छात्र 'उपभोक्ता'। इस तरह से इस व्यवस्था में शिक्षक और छात्र का आधारभूत रिश्ता ही बदल जाता है और शिक्षा एक उपभोग की वस्तु में तब्दील हो जाती है।

भारत में शिक्षा व्यवस्था में सुधार कुछेक मुख्य मुद्दों के इर्द-गिर्द हो रहा है। ये मुद्दे हैं- सरकारी स्कूलों की अक्षमता, अभिभावकों को विकल्प उपलब्ध करवाना, शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार लाने के लिए निजी-सार्वजनिक साझेदारी की जरूरत होना, कम फीस वाले निजी स्कूलों की जरूरत होना व उसके पीछे आर्थिक तर्क का होना। शिक्षा के क्षेत्र में 'विकल्प की उपलब्धता' के विचार को अमली जामा पहनाने के लिए अंतर्राष्ट्रीय नेटवर्क के जरिए भूमंडलीकृत कॉर्पोरेट पूंजी व स्थानीय व्यावसायिक हित साथ में मिल गए हैं। किन्तु दुखद यह है कि शिक्षा का इस तरह उपभोग की वस्तु में यह रूपांतरण हमारे देश में उस दौर में हो रहा है जिस दौर में हमारे देश की शिक्षा का कुछ लोकतांत्रिकरण होने लगा है। चाहे वह असमान व अव्यवस्थित तरीके से ही हो रहा है। इस दौर में हाशिए पर छूट गए समुदायों से बड़ी संख्या में छात्र शिक्षा पाने लगे हैं और वे शिक्षा के जरिए एक सम्मानजनक जीवन हासिल करने की आस लगाए बैठे हैं। पिछले सालों में सरकारी अनुदान नहीं लेने वाले निजी स्कूलों व कम फीस वाले निजी स्कूलों का प्रसार शहरी, अर्द्ध-शहरी व ग्रामीण इलाकों में बहुत तेजी से हुआ है। ये स्कूल गरीब तबके व निम्न मध्यम वर्ग के लोगों को अपनी सुविधा मुहैया करवाते हैं। अध्ययन बताते हैं कि विकल्प की उपलब्धता होने व अभिभावकों की अंग्रेजी माध्यम स्कूलों की मांग को संतुष्ट करने का यह तर्क दरअसल सामाजिक रूप से वंचित समुदायों के खिलाफ जाता है। खासतौर पर इन समुदायों की लड़कियों के खिलाफ। ये निजी स्कूल कम पारिश्रमिक वाले एक श्रम बाजार का निर्माण करते हैं। रिपोर्टें बताती हैं कि इस तरह के स्कूल बड़ी संख्या में शिक्षिकाओं को अपने यहां काम पर रखते हैं।

अनैतिक आचरण, अभिभावकों व स्थानीय समुदाय के प्रति जिम्मेदारी का अभाव, बच्चों का सीखने के अपेक्षित स्तर पर नहीं पहुंचना, स्कूल से बार-बार अनुपस्थिति व मुद्दों का राजनीतिकरण करना जैसी तोहमत सरकारी शिक्षकों पर लगती रही है। उनकी नौकरी स्थायी होने व अभिभावकों व बच्चों की तुलना में उनका यूनियन के रूप में संगठित होना आदि बातें भी उनके खिलाफ जाती हैं।

शिक्षकों को जिम्मेदार बनाने के नाम पर उन्हें संविदा पर रखने का तर्क दिया जाता है और इसे उनके दक्षता बढ़ाने के उपाय के तौर पर देखा जाता है। संविदा शिक्षकों व 'पैरा टीचर' की नियुक्ति हमारे यहां 1990 से शुरू हुए शैक्षिक सुधारों का मूल लक्षण रहा है। यह तर्क दिया जाता रहा है कि शैक्षिक सुधारों का शिक्षकों द्वारा जो विरोध किया जाता है उसके पर कतरने का एक रास्ता उनकी नियुक्ति का विकेन्द्रीकरण करना है। प्राथमिक स्तर पर पैरा टीचर कुल शिक्षकों की संख्या के 16 प्रतिशत हैं और उनका वेतन स्थायी शिक्षकों के वेतन का एक तिहाई के आस-पास होता है। वे आमतौर पर स्थायी शिक्षकों की तुलना में युवा होते हैं तथा उनकी शैक्षणिक योग्यता भी अपेक्षाकृत ज्यादा होती है किन्तु उनके पास शिक्षण को लेकर पेशेवर प्रशिक्षण नहीं होता (शिक्षा का अधिकार अधिनियम 2009 के संदर्भ में वर्तमान में प्रशिक्षित शिक्षकों की भारी संख्या में कमी है)। इसी दौर में निजी स्कूलों की संख्या में भारी वृद्धि हुई है और कम वेतन व संविदा पर काम करने वाली शिक्षिकाएं बड़ी संख्या में इन निजी स्कूलों से जुड़ी हैं। शिक्षकों का यह कम वेतन अक्सर दैनिक न्यूनतम मजदूरी से भी कम होता है और इसे सदा कम लागत पर शिक्षा का सार्वजनीकरण का उद्देश्य हासिल करने का तर्क देकर सरकार, अनुदान देने वाली एजेंसियों व निजी क्षेत्र द्वारा उचित ठहराने का प्रयास किया जाता है।

शैक्षणिक सुधारों का स्कूली शिक्षकों पर जो प्रभाव पड़ रहा है उसे लेकर भारत में पिछले कुछ सालों से काफी विवाद रहा है। एक तरफ ऐसे अध्येता हैं जिनका मानना है कि सामाजिक न्याय व समता को स्कूली नीतियों का मुख्य आधार होना चाहिए जबकि दूसरी ओर नीतियों को अमली जामा पहनाने वाले ऐसे लोगों का समूह है जो कम लागत पर सक्षम एवं गुणवत्तापूर्ण शिक्षा गरीबों तक पहुंचाने की वकालत करते हैं। शिक्षकों पर बढ़ते प्रशासनिक बोझ पर भी लोगों का ध्यान गया है। खासकर सरकारी स्कूलों के शिक्षकों को छात्रवृत्ति, उपस्थिति, मिड डे मील आदि जैसे बहुत सारे आंकड़े व रिकॉर्ड रखने पड़ते हैं। एक अध्ययन के दौरान पाया कि आन्ध्र प्रदेश के स्कूलों में शिक्षकों को

कम से कम 22 प्रकार के रिकॉर्ड संभालने पड़ते हैं। रिकॉर्ड रखने को लेकर सनक की हद तक का यह रवैया उस बाजार की जरूरत से जुड़ा है जिसका रिश्ता निजीकरण/भूमंडलीकरण है। इसे लेकर शिक्षकों व प्रधानाध्यापकों में काफी असंतोष है क्योंकि यह उनकी स्वतंत्र निर्णय लेने की क्षमता को बाधित करता है तथा इस तरह के काम के संबंध में किसी प्रकार का मार्गदर्शन व मदद उपलब्ध नहीं होती और इसमें गलती होने की भी संभवना काफी होती है।

इस प्रकार शिक्षा के विस्तार व सार्वजनीकरण संबंधी शैक्षिक सुधारों के इस उल्लास के बीच शिक्षक अपने-आपको प्रशासनिक बोझ के तले दबा हुआ, अकेला व हताश महसूस करते हैं। ऊपर से उन पर अनुपस्थित रहने व पढ़ाने को लेकर निरुत्साहित होने की तोहमत लगती है सो अलग। गरीबों को शिक्षा उपलब्ध करवाने वाले सार्वजनिक स्कूलों की खराब हालत की वजह सरकार खुद ही है और शिक्षकों की गुणवत्ता व पेशेवर दक्षता पर सवाल उठाकर इसे उजागर भी वह खुद ही करती है।

नई प्रबंधकीय तकनीकों के जरिए शिक्षकों के काम को नियंत्रित करके किए जाने वाले शैक्षिक सुधार सभी शिक्षकों के काम व पहचान पर असर डाल रहे हैं। इस तरह के उपायों की वजह से सर्वत्र प्रबंधन व्याप्त हो जाता है जिसकी वजह से कक्षा शिक्षण व आकलन जैसे रोजमर्रा के कामों पर हर वक्त नज़र रखी जाने लगती है और शिक्षण जैसा काम एक तरह के ऐसे प्रदर्शन में तब्दील हो जाता है जिसका काम सुधारों से पैदा हुई मांग की पूर्ति करना हो जाता है। शिक्षिकाओं पर इसका बेहद गंभीर असर पड़ा है और बदकिस्मती से भारतीय परिस्थितियों में इसे लेकर अभी तक ठीक से कोई अध्ययन नहीं हो पाया है।

जेंडर के नज़रिए से पड़ने वाले प्रभाव का आकलन सुधारों के दूसरे पहलू के बारे में भी किया जाना चाहिए। यह दूसरा पहलू है शिक्षकों का 'पेशेवर रुख' और इसे लेकर होने वाला विमर्श। नारीवादी अध्येताओं ने इस बात पर ध्यान दिलाया है कि आधुनिक शिक्षक को लेकर जो अवधारणाएं विकसित हो रही हैं वे 'नवउदारवादी तर्क' से किस तरह प्रभावित हो रही हैं। इस संदर्भ में शिक्षकों को शैक्षिक सुधारों के आधारभूत कारकों के तौर पर देखा जाता है। बाजार में शिक्षा की सफलता को इस रूप में देखा जाता है। वह देश का भूमंडलीकृत आर्थिक शक्ति के रूप में रूपांतरण कितना कर पाती है। पूरा दारोमदार इस पर टिका होता है कि शिक्षक कितने पेशेवर हैं और यह विचार शिक्षक को एक साधन के रूप में देखने के विचार पर टिका होता है। इस तरह की बातें 'आधुनिक शिक्षक के बारे में जनता के नज़रिए में सुधार लाने वाली' सरकारी परियोजनाओं को जन्म देती हैं। शिक्षकों का पेशेवर होना उनके कुशलतापूर्वक व्यवहार करने से तय होता है। इस कुशलतापूर्वक व्यवहार को छात्रों की उपलब्धि तथा सामाजिक व आर्थिक बदलावों के आधार पर परखा जाता है। सुधारकर्ता के तौर पर शिक्षक का एक साधन के रूप में इस तरह इस्तेमाल होने का अर्थ होता है कि वह मानकों, उद्देश्यों को हासिल करने के लिए अपने निजी हितों की बलि दे दे। अध्येताओं का कहना है कि शिक्षकों के पेशेवराना रुख को सरकार के द्वारा एक ऐसे राजनैतिक हथियार के तौर पर इस्तेमाल किया जाता है जो मुक्ति का अहसास (सहयोग, सशक्तिकरण आदि के नाम पर) देता है परन्तु ठीक उसी वक्त वह शिक्षकों को शोषण होने की हद तक अकुशल व गैर-पेशेवर बना रहा होता है।

अभी हाल ही में शिक्षकों की योग्यता व कौशल विकसित करने संबंधी सेवाकालीन प्रशिक्षणों में जेंडर को भी शामिल किया गया है। सर्वशिक्षा अभियान के अनिवार्य 20 दिवसीय प्रशिक्षण के दौरान शिक्षक जेंडर संबंधी सत्रों में भी हिस्सा लेते हैं। यह प्रशिक्षण लड़कियों को स्कूल से जोड़ने के संबंध में जेंडर समझ विकसित करने पर केन्द्रित होते हैं। इस तरह के सीमित उद्देश्य लेकर चलने वाले प्रशिक्षणों में सत्ता के विविध रूपों पर ध्यान बहुत नहीं जा पाता है। यह प्रशिक्षण महिलाओं के काम की वास्तविक परिस्थितियों, उनके जेंडर रिश्ते व स्कूल में मौजूद भेदभाव के प्रति बहुत कम समझ बना पाते हैं। न ही यह पाठ्यपुस्तकों में मौजूद जेंडर पहचान के मुद्दे पर कोई आलोचनात्मक समझ विकसित कर पाते हैं। शिक्षिकाएं बताती हैं कि उन्हें हर स्तर पर लड़कियों की भागीदारी बढ़ाने के लिए और अधिक मदद की जरूरत होती है और इस तरह के पारंपरिक प्रशिक्षण उनकी इस जरूरत का कोई हल उन्हें नहीं सुझाते।

जेंडर समता व सामाजिक न्याय जैसे मुद्दों पर गहरी समझ बनाने के बजाय संख्या के आधार पर जेंडर बराबरी पर जोर देने की यह संकुचित समझ इन एक या दो दिवसीय प्रशिक्षणों को 'नारीशक्ति या नारी जागृति' जैसी सीमित

विचार सरणी में डाल देते हैं। इसे अगर 'नारीवाद' के नज़रिए से देखें तो यह काफी नुकसानदेह है और शिक्षा के उद्देश्यों से इसका दूर का भी नाता नहीं है। जेंडर पर होने वाले प्रशिक्षणों को शिक्षकों व छात्रों के सामने आने वाली जेंडर संबंधी सभी प्रकार की चुनौतियों के लिए एक रामबाण दवा के रूप में देखा जाता है किन्तु इनमें शिक्षणशास्त्र संबंधी मुद्दों को लेकर होने वाली चर्चाओं की गैर-मौजूदगी की वजह से यह वह सब नहीं कर पाते जिसकी उम्मीद इनसे की जाती है। शिक्षिकाओं को अनुबंध पर रखना और उन्हें प्रशिक्षण दे देना और फिर यह मान लेना कि नारीवादी शिक्षणशास्त्र संभव हो जाएगा, इस बात में ही तार्किक दोष मौजूद है। चारों ओर मौजूद विद्वेष के माहौल में जब किसी भी मुद्दे को उठाना सामाजिक अस्थिरता पैदा करने वाला कदम मान लिया जाता हो तो ऐसे में सरकार द्वारा प्रस्तावित प्रशिक्षण में नारीवादी शिक्षणशास्त्र के मुद्दों पर की जाने वाली चर्चा 'लड़कियों के अनुकूल कक्षा-कक्ष' विकसित करने जैसे मुद्दे पर होने वाली चर्चा में सिमट कर रह जाती है। नारीवादी नज़रिए से विचार करते वक्त हमें यह मानना पड़ेगा कि खुद शिक्षक भी शिक्षा के सत्तावादी व खंडित स्वरूप के शिकार रहे हैं तथा उनका सामाजीकरण जेंडर विचारधाराओं को जायज ठहराने के लिए किया जाता रहा है। अतः ऐसे में उनसे नारीवादी शिक्षण करने की उम्मीद करना दूर की कौड़ी है। यह देखना भी दिलचस्प है कि हाल ही में पाठ्यचर्या में जो सुधार हुए हैं वे सक्रिय शिक्षक व साथ मिलकर ज्ञान निर्माण करने की बात करते हैं, इन सुधारों में ऐसे कदम भी उठाए जा सकते थे जिनसे नारीवादी शिक्षणशास्त्र की संभावनाओं पर होने वाली बहसों को बढ़ाया जाता किन्तु इसके बजाय एनसीएफ 2005 में शिक्षक के मत व अस्तित्व को नकार देने की प्रवृत्ति दिखाई देती है या फिर शिक्षण व आकलन के नए 'बाल केन्द्रित' मॉडल से जो परिणाम मिलते हैं उनमें मौजूद जेंडर के प्रभावों के प्रति एक तरह से आंख मूंद ली जाती है। जिसका परिणाम यह होता है कि इस 'पेशे' में मातृत्व पुनर्स्थापित हो जाता है।

आधुनिक समय में महिला शिक्षक

भूमंडलीकृत सुधारों के इस दौर में शिक्षा के क्षेत्र में किए जा रहे बदलावों के मूल में शिक्षक की असफलता का विमर्श है। जैसे कि पहले भी चर्चा की जा चुकी है कि लंबे समय से शिक्षिकाओं की नियुक्ति एक साधन के तौर पर की जाती रही है और यह काम उन्हें शैक्षिक विकास का अग्रदूत बनाकर शिक्षा नीति के तहत किया जाता रहा है। हाल ही के दस्तावेजों में हम यह पाते हैं कि शिक्षिकाओं का लचीला रुख व निष्क्रियता उन्हें पुरुषों की तुलना में बेहतर पसंद साबित करती है क्योंकि उनके बारे में यह माना जाता है कि वे राजनीति में लिप्त नहीं होती हैं (मानव संसाधन विकास मंत्रालय, 2001)।

भूमंडलीय आर्थिक सुधारों के संदर्भ में भारत के गरीब व निम्न वर्ग की बढ़ती वंचना को इस रूप में देखा जाता है कि इसका असर इस वर्ग के बच्चों की शिक्षा में भागीदारी करने पर पड़ रहा है। ये परिस्थितियां महिलाओं के काम को घर व स्कूल दोनों जगहों पर पुनर्परिभाषित कर रही हैं। चूंकि हमारे यहां जाति व वर्ग के आधार पर बंटे मानसिक काम व हाथ के काम के बीच एक द्वंद्वात्मक रिश्ता रहा है। अतः शिक्षा के अपने सत्तावादी चरित्र के चलते शिक्षकों को उन्हें मजदूर की श्रेणी में डाल देने वाला सुझाव बहुत नागवार गुजर सकता है। किन्तु यह तर्क दिया जा सकता है कि कौशलों में क्षरण, स्वायत्तता का खात्मा व प्रबंधकीय नियंत्रण का बढ़ना ऐसी वजह रही हैं जिनके कारण कार्यस्थल के तौर पर स्कूल मजदूरी करने वाली जगह में तब्दील हो गया है। आज शैक्षिक सुधारों के इस समय में जबकि सरकारी क्षेत्र की साख गिर रही है, बड़े पैमाने पर निजीकरण हो रहा है, शिक्षक के कामों पर नियंत्रण रखा जाने लगा है और उन्हें संविदा पर दिया जाने लगा है। ऐसे में जेंडर का एक अलग पहलू उभर कर सामने आता है। इन सबको मिलाकर देखने पर वाकरडाइन के उस कथन की पुष्टि ही होती है जिसमें एक तरफ महिला शिक्षक एक 'असंभव कल्पना' में बदल जाती है तो दूसरी तरफ शिक्षण के काम से जुड़ना उन्हें एक मजदूर में तब्दील कर देता है। आज के दौर में शिक्षा भी एक क्षेत्र है जिसका सामाजिक पुनरुत्पादन के नज़रिए से अध्ययन किया जाना चाहिए।

महिलाओं की खुद की प्राथमिकताओं व अनुभवों को लेकर किए गए अध्ययन बताते हैं कि उन्हें परिवार के स्तर पर सामाजिक पुनरुत्पादन में उनकी भागीदारी बढ़ाने को लेकर की जा रही उम्मीदों से निपटना है, साथ ही स्कूल में बच्चों खासकर लड़कियों को लेकर आने की भूमिका को भी निभाना है और उनका स्कूल में ठहराव भी सुनिश्चित करना

है। शिक्षिकाओं को लेकर किए गए अध्ययन बताते हैं कि वे शिक्षक के पेशे को इसलिए चुनती हैं क्योंकि इसे एक इज्जतदार पेशे के रूप में देखा जाता है तथा शिक्षा के क्षेत्र को एक स्त्रियोचित क्षेत्र माना जाता है। शिक्षण के काम को मातृत्व के काम का ही एक स्वभाविक विस्तार माना जाता है। परन्तु इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि इस पेशे को उन परिवारों की ओर से जिनमें लड़कियों का शादी-ब्याह होना तय होता है यानी ससुराल पक्ष के परिवारों में पैदा हुई मांग के दायरे में एक तरह की स्वीकृति मिली हुई है। पढ़ी-लिखी महिला का शिक्षक बनना आय उपार्जन करने व परिवार की आय में मदद करने के लिए एक आदर्श किस्म का विकल्प माना जाता है। इस पेशे के लिए दिया जाने वाला समय दूसरी पारिवारिक जिम्मेदारियां पूरी करने के लिए समय उपलब्ध करवाता है, छुट्टियों आदि से संबंधित इसका जो समय चक्र है वह स्कूल जाने वाले बच्चों के साथ मेल खाता है। साथ ही जो प्रशिक्षण आदि मिलते हैं वे एक तरह की ऐसी सहज पूंजी हैं जिन्हें अपने पति व परिवार के स्थानांतरण के साथ कहीं भी बड़ी आसानी से साथ में ले जाया जा सकता है। यहां हम मातृत्व व पारिवारिकता का एक जाति व वर्ग आधारित चरित्र बनता हुआ देखते हैं और यही वह बात है जो महिलाओं को विकास संबंधी जरूरतों को पूरा करने के एक हिस्से के रूप में वैतनिक रोजगार में शामिल करती है जबकि शिक्षित महिलाओं के लिए स्कूल से बतौर रोजगार जुड़ने के पीछे सुविधा वाला तर्क काम कर रहा होता है।

यह महत्वपूर्ण है और इसे दर्ज किया जाना चाहिए कि शिक्षकों की कोई एक तरह की श्रेणी नहीं है। स्कूलों के आधार पर उनमें विभिन्न प्रकार का स्तरीकरण मौजूद हैं। बैंगलोर के 50 स्कूलों में किए गए अध्ययन से सरकारी व निजी स्कूलों में काम करने वाली शिक्षिकाओं के बीच महत्वपूर्ण अंतर सामने आया। सरकारी क्षेत्र में काम करने वाली शिक्षिकाओं का कार्यकाल स्थायी होता है, उन्हें अच्छी तनख्वाह तथा दूसरे लाभ मिलते हैं। इस वजह से ये महिलाएं परिवारों में अपनी बात मनवाने की ज्यादा बेहतर स्थिति में होती हैं। ये नौकरी के लिए आवेदन करने, परिवार का स्थानांतरण हो जाने पर भी अपनी नौकरी आगे जारी रखने, पदोन्नति के लिए और बेहतर योग्यता हासिल करने, प्रशिक्षण, तैयारी व आकलन के लिए समय चाहने जैसी सभी मांगें अपने परिवार के सामने रख सकती हैं और परिवार से घर के काम-काज व बच्चों की देखभाल में मदद करने की मांग कर सकती हैं। दूसरी ओर निजी स्कूलों में काम करने वाली शिक्षिकाओं का वेतन कम होता है, उन्हें किसी और तरह का कोई लाभ नहीं मिलता, उनका कार्यकाल अनिश्चित होता है। ऐसे में वे कभी भी काम छोड़ देने के लिए अभिशप्त हैं। कम वेतन होने का अर्थ है कि परिवार उनके काम की आसानी से बलि दे सकता है। उन्हें परिवार का सहयोग नहीं मिल सकता तथा जब उनका परिवार दूसरी जगह चला जाता है तो वे उसी नौकरी में बने रहने की अपनी बात नहीं मनवा सकतीं।

इन दोनों ही परिस्थितियों में ऐसा लगता है जैसे महिलाओं ने स्कूली शिक्षा में अपनी जगह होने के तर्क को आत्मसात कर लिया है तथा इसे बच्चों को भावी नागरिक बनाना महत्वपूर्ण है जैसे तर्क से न्यायोचित ठहरा रही हैं। और यही बात अध्येताओं को इस तरफ ले जाती है कि वे शिक्षिकाओं को वाकरडाइन की 'असंभव कल्पना' तथा जीवन में संतोष की संभावना के बीच रखें।

अनुदान न लेने वाले निजी स्कूलों व कम फीस वाले निजी स्कूलों में भारी संख्या में शिक्षिकाओं की नियुक्ति होती है। इन स्कूलों में वे असुरक्षित संविदा पर काम करती हैं, उनकी तनख्वाह बहुत कम होती है और काम के कोई निश्चित घंटे नहीं होते। इस क्षेत्र में रोजगार पाने वाली महिलाओं की नियुक्ति के पैटर्न किस तरह के होते हैं, उनके काम की स्थितियां क्या हैं तथा वे किस सामाजिक पृष्ठभमि से आती हैं, इस बारे में बहुत कम आंकड़े उपलब्ध हैं। दूसरी ओर अभिजात किस्म के निजी स्कूलों का पूरा एक वर्ग है। यह ऐसा क्षेत्र है जो शिक्षा के अंतर्राष्ट्रीय बाजार को अपनी सेवा देता है। यह क्षेत्र भी अध्ययन के दायरे से पूरी तरह बाहर छूटा हुआ है और इसकी बड़ी वजह हे अध्येताओं की पहुंच इन तक न हो पाना। इन स्कूलों की ऊंची फीस और हैसियत हमें यह मानने को बाध्य करती है कि इन स्कूलों में जो महिलाएं रोजगार पाती हैं वे उच्च मध्य वर्ग या उच्च वर्ग से ताल्लुक रखती होंगी। एक बड़े शहर में किसी कॉर्पोरेट घराने द्वारा इसी तरह के एक स्कूल में अपनी पहुंच बना पाने की वजह से वहां के शिक्षकों के साथ लिंगभेद के मसले पर आरंभिक स्तर की कुछ बातचीत कर पाना संभव हुआ। इस बातचीत से पता चलता है कि वहां सभी स्तरों पर शिक्षिकाओं को औरतों में तब्दील करने की क्रिया जोर-शोर से चलती रहती है। ये सभी शिक्षिकाएं उन ऊंची

जातियों/उच्च वर्गों से ताल्लुक रखती हैं जिनमें उनकी शादियां कॉर्पोरेट क्षेत्र में काम करने वाले पुरुषों से हो चुकी होती है। चूंकि यह स्कूल शहर के उच्च वर्ग के बीच बेहद लोकप्रिय भी था तो ऐसे में यह मान लेना उचित ही है कि इसकी कुछ विशेषताएं लोगों को पसंद आती होंगी, जैसे- पुरुषों के मनमाफिक इसके वेतनमान होना, महिलाओं की यौनिकता पर नियंत्रण साधना (ड्रेस कोड के जरिए), छात्रों को पूरी तरह एक ग्राहक के तौर पर देखना (कुछ शिक्षिकाओं द्वारा यौन उत्पीड़न महसूस करने के बावजूद उस पर आवाज न उठाना बल्कि चुप्पी को जायज ठहराना) तथा कॉर्पोरेट व्यवस्था में मौजूद प्रशासनिक ढांचे को अपने यहां अपना लेना जिसमें स्कूली प्रबंधन तक पहुंचने से पहले ह्यूमन रिसोर्स मैनेजर जैसे किसी दरबान से दो-चार होना पड़े आदि।

इन अध्ययनों से मिलने वाली अंतर्दृष्टि हमें इस बात पर सोचने के लिए मजबूर करती है कि आज के समय की इस हकीकत का जेंडर संबंधी व्यापक रिश्तों पर क्या असर पड़ता होगा। स्कूलों में एक नए किस्म का जेंडर भेद गढ़ा जा रहा है। अध्ययन हमें बताते हैं कि शिक्षकों के लिए पदोन्नति के कुछ अवसर देने वाले निजी स्कूलों व कम वेतन वाले स्कूलों में काम करने वाले पुरुष शिक्षक शिक्षण को कुछ समय के लिए भरपाई करने वाले रोजगार के तौर पर या एक तरह की पूरक आय के तौर पर देखते हैं। दूसरी तरफ सभी तरह की व्यवस्थाओं में ऊंचे प्रशासनिक पदों पर आमतौर पर पुरुष बैठे होते हैं। सरकारी स्कूली व्यवस्था में तो यह रिश्ता साफ तौर पर उभर कर सामने आता है। शैक्षिक सुधारों के बाद वाले समय में सरकारी स्कूलों में शिक्षिकाओं की संख्या में भारी बढ़ोतरी होने की एक वजह शिक्षकों के पदों का अस्थायी हो जाना है। संविदा या अस्थाई शिक्षकों की भर्ती जेंडर, जाति व शिक्षण के बीच के रिश्ते को पुनर्परिभाषित कर रही है और इस बारे में अध्ययन किए जाने की सख्त जरूरत है। 1996-2006 के दशक के दौरान कुछ राज्यों में यह देखने में आया है कि शहरी व ग्रामीण दोनों ही क्षेत्रों में ऊंची जाति के बहुत कम पुरुष संविदा शिक्षक के तौर पर स्कूलों से जुड़े हैं। उनकी जगह इन पदों पर मध्यम जातियों के पुरुषों व उच्च जाति की महिलाओं की संख्या बहुत तेजी से बढ़ी है क्योंकि कम वेतन व असुरक्षित रोजगार के इन पदों पर ये दोनों ही काम करने को तैयार थे।

इन सीमित अध्ययनों से मिलने वाली अन्तर्दृष्टि हमें यह बताती है कि आज के समय में स्कूली शिक्षिकाओं के लिए जो परिस्थिति बन रही है उस पर स्तरीकरण, सामाजिक पहचानों में मौजूद विविधता तथा भूमंडलीकरण के अंतर्गत बदलती हुई हकीकतों की छाप मौजूद है और ऐसा न सिर्फ शिक्षा के क्षेत्र में हो रहा है बल्कि समाज व अर्थव्यवस्था के संदर्भ में भी हो रहा है। मुम्बई म्यूनिसिपल द्वारा संचालित स्कूलों के शिक्षकों ने एक चर्चा के दौरान बताया कि आज सरकारी शिक्षकों की स्पर्धा निजी-भागीदारी से चल रहे स्कूलों से लगातार बढ़ती जा रही है और इस स्पर्धा का आधार 'निपुणता' व 'पेशेवर दक्षता' को बनाया जाता है। बहुत से म्यूनिसिपल स्कूलों के सामने बंद होने का खतरा लगातार मंडरा रहा है, नियंत्रण व नियमन के नए उपायों के तहत इन स्कूलों पर विचार किया जा रहा है क्योंकि गिरते नामांकन के कारण उन्हें बेअसर माना जा रहा है और यह माना जा रहा है कि ये स्कूल शहर में शामिल हो रही नई जगहों व जनसंख्या के लिए अपने यहां जगह बनाने में बेअसर साबित हो रहे हैं। डीएड प्रशिक्षण प्राप्त युवा महिलाओं को ऐसा लग रहा है जैसे निजी-भागीदारी के आधार पर चल रहे स्कूलों में उन्हें केवल प्रशासनिक काम निपटाने के लिए ही नौकरी दी गई है जबकि पुराने शिक्षक नामांकन बनाए रखने व छात्रों की खराब हालत से निपटने में लगे हुए हैं। अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्थानों व स्थानीय कॉर्पोरेट निकायों द्वारा सोच-समझकर स्थापित की गई इन नई व्यवस्थाओं में म्यूनिसिपल शिक्षक अपने-आपको शिक्षक के तौर पर कमतर महसूस कर रहे हैं।

आज की मुम्बई का संदर्भ हमारे लिए इस मायने में रोचक अंतर्दृष्टि उपलब्ध करवाता है कि किस तरह विकास संबंधी परियोजनाओं के जरिए बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप सार्वजनिक शिक्षा को पुनर्परिभाषित किया जा रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्थाएं व कॉर्पोरेट दोनों मिलकर किस तरह म्युनिसिपल स्कूलों के संबंध में नीति निर्माण में अपना आधिपत्य स्थापित करते जा रहे हैं तथा अधिक से अधिक निजी-भागीदारी वाले मॉडलों को लाने पर जोर दे रहे हैं, स्कूली व्यवस्था को सामाजिक उद्यमिता व कॉर्पोरेट परोपकार के ढांचे के अंतर्गत लाने की कोशिश कर रहे हैं। और यह सब करने के लिए पूरा वातावरण काफी अनुकूल दिखाई दे रहा है। इन परियोजनाओं में से अधिकतर में समुदाय की ऐसी महिलाओं को रोजगार दिया जाता है जिनके पास थोड़ी-सी स्कूली शिक्षा होती है। इन महिलाओं

को सेवाकालीन प्रशिक्षण दिया जाता है और इनकी तनख्वाह सरकारी तनख्वाह की पासंग में भी नहीं होती। शहर की परिधि बदल रही है, इसकी श्रमशक्ति का मिजाज बदल रहा है और श्रमिक प्रक्रियाएं बदल रही हैं, ऐसे में अपने बच्चों को इन स्कूलों में भेजने वाले कामकाजी परिवारों को तेजी से हकीकत में व रूपक के तौर पर भी हाशिए पर धकेला जा रहा है।

निष्कर्षः कुछ और अधिक की खोज

शिक्षकों पर नवउदारवाद का यह हमला उस ऐतिहासिक क्षण में हो रहा है जब ज्यादा से ज्यादा महिलाएं शिक्षा हासिल कर रही हैं व उनके वैतनिक रोजगार हासिल करने की संभावाएं बढ़ गई हैं। महिला शिक्षकों की बढ़ती संख्या के इन आंकड़ों के पीछे उनके उन संघर्ष की कहानियां छुप जाती हैं जिन्हें उन्हें अपनी पहचान हासिल करने के लिए पारिवार में तथा शैक्षिक व कार्यस्थल पर करना पड़ता है। इन आंकड़ों के पीछे इन सभी जगहों पर पितृसत्तात्मक नियंत्रण के नए स्वरूप व उनकी सत्ता भी छुप जाते हैं।

यह अध्ययन किए जाने की जरूरत है कि शिक्षा के क्षेत्र में हुए इन सुधारों ने शिक्षिकाओं की निजी व पेशेवर पहचान के बोध को किस तरह प्रभावित किया है। इसे जानने के लिए हमें व्यापक आर्थिक सुधारों की वजह से समाजिक/जेंडर रिश्तों पर पड़ने वाले प्रभावों की पड़ताल करनी होगी। हमें स्कूल में तथा घर में किए जाने वाले विभिन्न कामों की सामाजिक संरचना में आए बदलावों की पड़ताल करनी होगी, काम के नए स्वरूपों में जगह बनाने के लिए परिवारों की रणनीतियों में होने वाले बदलावों का अध्ययन करना पड़ेगा, महिलाओं के संघर्षों के नए पहलुओं, उनके अपनी बात मनवाने के नए पहलुओं आदि का अध्ययन करना पड़ेगा। जैसा कि इस लेख में चर्चा की गई है कि शिक्षा के क्षेत्र में सुधारों का जेंडर संबंधी पहलू परेशानी पैदा कर रहा है। एक अध्ययन ने बताया है कि एनसीएफ से जुड़े प्रगतिशील विचार में सीखने वाले के तौर पर बच्चे के व्यक्तिव को लेकर बात की गई है किन्तु सुधार प्रक्रियाओं में शिक्षकों की स्थिति का नकार कायम है। इस अध्ययन ने महत्वपूर्ण मुद्दा उठाया है वह यह कि शिक्षा को लेकर एक बहुप्रचलित विचार यह है कि वह जानकारी के प्रसार का महत्वपूर्ण साधन होती है। आज इस विचार पर सवाल उठने के बावजूद शिक्षक के सरकारी सुधारों के निष्क्रिय प्रतिनिधि होने की धारणा इन सवालों के दायरे से अछूती ही रह जाती है।

एनसीएफ 2005 के बाद की नई पाठ्यचर्या रूपरेखाएं शिक्षिकाओं की रचना खासतौर पर मातृत्व वाली धारणा के इर्दगिर्द कर रही हैं। सामाजिक पुनरुत्पादन व शिक्षा के दूसरे और पहलू भी हैं जिनके बारे में जानने की उम्मीद हम आने वाले समय में कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, कुछ अध्ययनों ने दर्शाया है कि शादी के बदलते बाजार की मांगों को पूरा करने के लिए अभिभावक अपनी बेटियों के लिए कम फीस वाले निजी स्कूलों का चुनाव कर सकते हैं। गुणवत्ता व पेशेवर दक्षता के विमर्श ने सत्ता की नई व्यवस्थाओं की रचना कर दी है। शिक्षकों पर प्रशासनिक व गैर-अकादमिक काम का बोझ बढ़ गया है। निगरानी व नियम-कायदों की नई सख्त व्यवस्थाएं आदि सब छात्र की जरूरत व लाभ के हिसाब से बनाई जा रही हैं। शिक्षकों की शिकायत है कि विकासशील राज्य के आज्ञाकारी प्रतिनिधि के तौर पर शिक्षण किए जाने के चक्कर में उनकी स्वायत्तता छिन गई है तथा शिक्षा की व्यापक परियोजना से वे अपने-आपको अलग-थलग महसूस करते हैं।

वर्तमान समय में शिक्षिकाओं के काम व जीवन का अध्ययन करते हुए हम उन संस्थाओं की सत्ता के बीच एक किस्म का तनाव महसूस कर सकते हैं जो किसी खास ऐतिहासिक, आर्थिक व सामाजिक परिस्थितियों के दौरान अस्तित्व में आई थीं। आज उन व्यक्तियों की इच्छाएं इन सत्ताओं के खिलाफ जा सकती हैं और वे अपने स्तर पर संस्थाओं की वर्तमान संरचनाओं को प्रभावित कर सकते हैं। यही शिक्षा का वह मुक्ति संबंधी वादा है जिसे नारीवादी भी मानते हैं और दृढ़ता से उठाते हैं। हमें इस तरह के बदलाव को अवधारणात्मक जामा पहनाने के लिए अभी और काम करने की बेहद जरूरत है। ◆

(यह लेख इण्डियन जर्नल ऑफ जेण्डर स्टडीज में छपे वीमेन स्कूल टीचर्स इन न्यू टाइम्सः सम प्रीलिमनरी रिफ्लेशन्स का संक्षिप्त भावानुवाद है।)

भाषान्तरः प्रमोद पाठक

लेखिका परिचयः टाटा इन्स्टीट्यूट ऑफ सोश्यल साइंसेज, मुंबई के स्कूल ऑफ एज्युकेशन में एसोशियेट प्रोफेसर हैं।

शिक्षा के उद्देश्य एवं मूल्य शिक्षा

शारदा जैन के साथ विश्वंभर की बातचीत

प्रश्नः मैं शिक्षा के लक्ष्यों पर राष्ट्रीय फोकस समूह का आधार पत्र पढ़ रहा था। पढ़ते हुए कुछ सवाल मन में आए। आप इस समूह की एक सदस्य रही हैं और जयपुर में होने की वजह से आपसे बातचीत का अवसर भी सहज सुलभ है। पहला सवाल तो यही है कि शिक्षा के उद्देश्यों को कैसे समझा जाए?

उत्तरः शिक्षा के उद्देश्य के बारे में हमारे फोकस समूह की सहमति थी कि शिक्षित व्यक्ति को एक अच्छा इंसान होना चाहिए और यह एक पुराना विचार है जिसे आर. एस. पीटर्स ने भी सामने रखा। पहला सवाल तो यही है कि हम शिक्षा के अर्थ को कैसे समझते हैं। एक अर्थ में हम कहते हैं कि *हरेक व्यक्ति को शिक्षा मिलनी चाहिए* या *हरेक व्यक्ति शिक्षित होना चाहिए*। यदि इसे ठोस अर्थ में लें तो आप इससे सहमत होंगे। लेकिन इस कथन से यह स्पष्ट नहीं होता कि शिक्षा शब्द से क्या कहना चाह रहे हैं और जिन्दगी से इसका कोई सीधा संबंध नहीं दिखाई देता। शिक्षा का अधिकार जीवन के अधिकार से निकलता है। शिक्षा के बिना जिन्दगी को 'जिन्दगी' नहीं कहा जा सकता। इसका अर्थ है कि शिक्षा किसी तरह जीवन की गुणवत्ता से ताल्लुक रखती है, इस विचार पर इस समूह की सहमति थी। अच्छी जिन्दगी कहते हुए हमें देखना होगा कि हम 'जिन्दगी' से क्या समझते हैं? एक सहमति इस समूह में उभरी थी कि शिक्षा इंसान की विशिष्टता को सर्वोत्कृष्ट रूप से उभारने का काम करती है।

मैं व्यक्तिगत रूप से मानती हूं कि हर इंसान विशिष्ट है। व्यक्ति की विशिष्टता पुष्पित और पल्लवित हो, इसके लिए 'अवसर' मिलना जरूरी है। इसे शिक्षा का उद्देश्य भी कहा जा सकता है। अब प्रश्न है कि ये 'अवसर' किस प्रकार के हों और कहां हों? यहां एक बात स्पष्ट करने की जरूरत है कि एक दृष्टि से हरेक व्यक्ति की बहुत-सी शिक्षा 'होती' रहती है और कुछ हम 'करते' हैं। यहां शिक्षा की अवधारणा सीखने की अवधारणा की पर्याय है। इसका अर्थ है कि बिना किसी के हस्तक्षेप के बहुत-सी शिक्षा होती रहती है। कोई कह सकता है कि *मेरी बहुत सारी शिक्षा तब हुई जब मेरी दुर्घटना हुई और मैं लगभग मरने के कगार पर था*। यह वाक्य अर्थपूर्ण है लेकिन इसके मायने यह नहीं हैं कि सबकी दुर्घटना कराई जाए और मरने के लिए छोड़ दिया जाए। यह तो इसका अर्थ नहीं बनता!

प्रश्नः लेकिन यह तो व्यक्ति के जीवन में अनायास हो रहा है और जो स्वभाविक भी है।

उत्तरः बिल्कुल, शिक्षा की चर्चा जहां जाकर अटकती है वह है कि शिक्षा का बंदोबस्त दूसरे लोग करते हैं। जब हम किसी की शिक्षा कर रहे होते हैं तो हम व्यक्तियों के जीवन में हस्तक्षेप कर रहे होते हैं। यदि हम व्यक्तियों को खुद के भरोसे छोड़ दें तो भी वे बहुत कुछ सीखते ही हैं। वे अपनी बात कहना, दूसरों की समझना, बातचीत करना स्वतः सीखते हैं, नृत्य करना या गाना सीख जाते हैं। यह सब सीखना ही है। यदि

हम किसी मकसद से शिक्षा कर रहे हैं तो फिर शिक्षा 'सीखने' का पर्याय नहीं रह जाती। यानी, शिक्षा व्यक्ति के जीवन में एक सुविचारित हस्तक्षेप बन जाती है। क्योंकि यह हस्तक्षेप सुविचारित है इसलिए यह नैतिक रूप से भी स्वीकार्य होना चाहिए। यह एक नैतिक चुनौती है क्योंकि किसी व्यक्ति को किसी दूसरे व्यक्ति के जीवन में हस्तक्षेप करने का अधिकार किसने दिया है? अतः यह एक नैतिक दायित्व बन जाता है कि हम अपना उद्देश्य स्पष्ट करें।

आज सबसे बड़ी समस्या यह है कि हम व्यापक वैविध्य के साथ एकरूपता जैसा बर्ताव कर रहे हैं। एक तरफ तो हम भारतीय परिदृश्य के बारे में कह रहे हैं कि वैविध्य हमारी सबसे बड़ी ताकत है। दूसरी तरफ उस विविधता को दबाकर सभी को एकरूप बनाने की कोशिश कर रहे हैं क्योंकि वह शिक्षा का प्रबंधन करने वालों के अनुकूल है।

प्रश्नः आपके हिसाब से शिक्षा में लक्ष्य क्या हैं?

उत्तरः शिक्षा के लक्ष्य कहने में एक समस्या है। इसे शिक्षा के उद्देश्य कहना चाहिए। देखिए, लक्ष्य अक्सर प्रक्रिया से बाहर होता है लेकिन उद्देश्य प्रक्रिया के अन्तर्गत होता है। क्योंकि शिक्षा कहीं और नहीं ले जाती। यह खोजने की प्रक्रिया में देखने जैसा है (Lookinh and Finding)। जब आप किसी चीज को खोज रहे होते हैं तो देख भी रहे होते हैं। शिक्षा हमेशा एक प्रक्रिया ही है। सीखना विभिन्न तरह से चलने वाली सतत प्रक्रिया है और शायद शिक्षा की पूरी प्रक्रिया में शिक्षक ज्यादा सीखने वाला है, सबसे बड़ा लाभार्थी है।

हमने बातचीत की शुरुआत जीवन के अधिकार से की थी। अब विस्तार से समझने की जरूरत है कि अच्छा इंसान किसे कहेंगे। अच्छे इंसान वे हैं जो स्पष्ट सोच सकेंगे, उचित-अनुचित का भेद कर सकेंगे और जो काम वे करेंगे, वह स्पष्ट सोचे और उचित-अनुचित महसूस किए हुए के साथ संगत होगा। शिक्षा का संबंध व्यक्ति के ज्ञानात्मक, भावात्मक और व्यवहारात्मक पक्षों से होता है। जब तक ज्ञानात्मक पक्ष, भावात्मक पक्ष और व्यवहारात्मक पक्ष एक साथ नहीं आएंगे तब तक शिक्षा एकांगी ही रहेगी। यानी, यदि कोई ज्ञानात्मक पक्ष पर ही अधिकार प्राप्त कर ले तो वह बड़ा पंडित तो सकता है लेकिन हो सकता है उचित व्यवहार नहीं कर पाए। उदाहरण के लिए, सिगरेट के पैकेट पर लिखा रहता है कि सिगरेट पीना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। यह बात व्यक्ति को समझ भी आती है और इसका तर्क भी समझ आता है लेकिन फिर भी वह व्यवहार में सिगरेट पीता है। हम यह कह रहे हैं कि ज्ञान तभी होगा जब वह इंसान के भावात्मक और व्यवहारात्मक पक्ष में भी आए। इसे सुकरात के अर्थ में भी कहा जा सकता है कि 'ज्ञान ही सद्गुण है'। आज के वक्त में अनेक लोग बहुत ही ज्ञानवान तो हैं लेकिन वे बहुत दुष्ट किस्म के हैं।

प्रश्नः इंसानों की विशिष्टता को कैसे समझें और शिक्षा इसे उभारने में किस तरह मदद कर सकती है?

उत्तरः यदि हर इंसान विशिष्ट है, जैसा कि हम मान रहे हैं, तो इसका मतलब है कि उस विशिष्टता को उभारने की जरूरत है। विशिष्ट होने का अर्थ है कि व्यक्ति की जो रुचियां, प्रवृत्तियां हैं वे उभरकर आएं। मसलन, मुझे गणित में दिलचस्पी है या संगीत में है या गप्प लगाने में बहुत मजा आता है तो वे उभरकर आनी चाहिएं। या मुझे शांति या मस्ती में मजा आता है तो उसके सामाजिक संदर्भ में उसकी स्वीकार्यता को पहचानकर उभारे और अपने को पहचाने। हो सकता है कि कोई कहे कि उसे दूसरों की सेवा करना बहुत अच्छा लगता है। हो सकता है कि वास्तव में सेवा करना अच्छा न लगता हो। ऐसे में क्या मैंने अपने को पहचानते हुए कहा है या वह कहा है जो दूसरों को सुनने में अच्छा लगता है। इसलिए मैं अपने आपकी सच्चाई के और उससे अनुसार पेश आऊं। दूसरा मुझे कभी नैतिक नहीं बना सकता।

अधिकांशतः व्यक्ति खुद भी नहीं जानते कि वे क्या हैं। हम यहां से बात शुरू कर सकते हैं कि मैं अपने को कैसे पहचानती हूं। मैं अपने को तब पहचानती हूं जब दूसरों के संपर्क में आती हूं। मसलन, दूसरा जब यह कहता है कि यह बात आपने बहुत अच्छी कही। तब मुझे लगता है कि यह बात अच्छी तरह कही जा सकती है। मैं अकेला रहना पसंद करती हूं, यह मुझे तब समझ आता है जब मैं भीड़ में चलती हूं। खुद को जानना इसलिए जरूरी है कि हम अक्सर अपनी चीजों के लिए दूसरों को जिम्मेदार ठहराते रहते हैं। जैसे, कोई कह सकता है कि मैंने यह काम इसलिए किया

क्योंकि उसने मुझसे ऐसा करने के लिए कहा था या मैं कोई चीज इसलिए नहीं सीख पाया क्योंकि उसने मुझे ठीक से सिखाया ही नहीं या मेरी आवाज ऊंची इसलिए हो गई कि क्योंकि उसने मुझसे बोला ही ऐसे था। यानी, हम खुद को सुरक्षित रखकर किसी दूसरे को जिम्मेदार ठहराते रहते हैं जिसे मैं खुद भी आपत्तिजनक मानती हूं। मैं जब स्वयं को जानूंगी तभी मैं अपने को परिष्कृत कर सकती हूं। शिक्षा का उद्देश्य स्वयं को जानना है। इसी प्रक्रिया में मैं दूसरों को भी जानती हूं। और इसके बाद पुनः मैं स्वयं को जानती हूं। मैं अपने-आपको इस तरह जानूं जो कि स्वीकार्य हो और सद्गुण संपन्न हो। हम यहां शिक्षा का सीमित प्रयोग कर रहे हैं जो कि सामाजिक संदर्भ में है। यदि आप शिक्षा में हस्तक्षेप कर रहे हैं, यदि यह आपके हित में है तो यह दूसरों के हित में भी होना चाहिए। यानी, आप स्वयं के लिए जितने महत्वपूर्ण हैं उतने ही दूसरे भी महत्वपूर्ण हैं।

प्रश्नः क्या हम शिक्षा के उद्देश्यों पर पुनर्चिंतन इसलिए करना चाहते हैं ताकि जो हम कर रहे हैं उसे पलटकर देख सकें या समय के साथ शिक्षा के उद्देश्यों में बदलाव की जरूरत होती है?

उत्तरः यह एकदम सही है कि हम जो कर रहे हैं उस पर पुनर्चिंतन करना चाहते हैं। क्योंकि फिलहाल हम जो कर रहे हैं उसमें हमारे ऊपर शिक्षा का प्रबंधन हावी हो रहा है। यदि आप दूसरे के जीवन में हस्तक्षेप कर रहे हैं तो इसका मतलब है कि वे अपनी शैली में उभर सकें न कि हम जैसा चाहते हैं उसके अनुरूप बनें। प्रबंधन के नजरिए की दिक्कत यह है कि हम दूसरों को जैसा चाहते हैं, वैसा बनाने की कोशिश करते हैं। किसी एक वार्ता में किसी ने कहा कि बच्चे सीख नहीं रहे हैं। मैंने कहा कि आप मजाक कर रहे हैं। बच्चे तो बहुत कुछ सीख रहे हैं। दिक्कत यह है कि आप जो सिखाना चाहती हैं वे उसे नहीं सीख रहे हैं। इसका मतलब है कि आप क्या सिखाना चाहते हैं, उस पर पुनर्चिंतन करें। शिक्षा के उद्देश्यों में समय के साथ नहीं, संदर्भ के साथ बदलाव होता है। क्योंकि शिक्षा हम निर्वात में तो कर नहीं रहे हैं, शिक्षा हम एक संदर्भ में कर रहे हैं। हम शिक्षा एक सामाजिक और राजनैतिक संदर्भ में कर रहे हैं। आप कह सकते हैं कि संदर्भ में बदलाव समय के अन्दर ही होता है। अच्छी शिक्षा या अच्छा जीवन क्या होता है, इसके लिए आप शिक्षा या जीवन किसे कहेंगे, इसकी जितनी स्पष्टता होगी उतना ही आपको पता चलेगा कि अच्छी शिक्षा या अच्छा जीवन क्या है। जीवन का क्या उद्देश्य है और यदि वह पूरा नहीं हो पा रहा है तो आप कहेंगे कि यह कोई जिन्दगी में जिन्दगी है! अच्छी शिक्षा वह होगी जिससे हमारी जिन्दगी बेहतर हो और जिन्दगी इस समय एक सामाजिक संदर्भ में देखी जा रही है।

प्रश्नः शिक्षा की प्रक्रिया में सबसे विवादित रहता है कि बच्चों को मूल्य शिक्षा या आपके हिसाब से सद्गुण की शिक्षा कैसे दें। आपके इसके बारे में क्या विचार हैं?

उत्तरः हम कहते हैं कि हम भारतीय संविधान को मानते हैं। गैर-बराबरी को ज्ञानात्मक रूप में समझना तो आसान है। यदि मैं गैर-बराबरी को भावात्मक और व्यवहारात्मक रूप में नहीं समझती तो फिर मैं गैर-बराबरी को समझती ही नहीं। वह शिक्षा कैसी है जो सिर्फ एक पक्ष को पकड़े! व्यवहारात्मक का मतलब है कि आपको सद्गुण संपन्न होना चाहिए यानी दूसरों के बारे में वैसा सोचना जैसा अपने बारे में सोचते हैं। नैतिकता का मतलब है कि दूसरे को अपना जैसा समझकर, अपने साथ जैसा व्यवहार चाहते हैं वैसा ही व्यवहार उसके साथ करें। शिक्षा का बुनियादी उद्देश्य है कि व्यक्ति का परिष्कार होना चाहिए और क्योंकि हरेक व्यक्ति विशिष्ट है और उसकी विशिष्टता निखर कर आनी चाहिए।

मूल्य का अर्थ है जो हम चाहते हैं। आज की स्थिति में हम कहते हैं कि 'मूल्य' नहीं हैं। वास्तव में मूल्य तो बहुत हैं। आज की तारीख में समाज में ज्यादा से ज्यादा कमाना सबसे बड़ा मूल्य है या समाज में ऊंचा स्तर एक बड़ा मूल्य है जो कि आर्थिक स्तर पर आधारित है। ऐसा तो होता नहीं है कि मूल्य कभी नहीं होंगे। हम जो चाहते हैं वे ही मूल्य हैं, लेकिन हम उनकी घोषणा नहीं करते हैं। हम घोषणा ऐसे बुनियादी मूल्यों की करते हैं जैसे 'सब सुखी रहें', 'सब अच्छे रहें' या 'सब स्वतंत्र रहें'। लेकिन वास्तविकता में यह हो सकता है कि हम उन्हें नियंत्रित करना चाहते हैं। हम

कहते हैं कि सभी को बराबरी और न्याय मिले। ये तो हमारे देश के संविधान में घोषित मूल्य हैं। हम अनेक बार कहते हैं कि हम इन मूल्यों की परिधि में रहते हैं लेकिन वास्तव में तो हम इन मूल्यों की परिधि में नहीं रहते। हमारे मूल्य कुछ और ही होते हैं।

यथार्थ तो वही है जो अनुभूत है। यदि जो अनुभूत है उसे आप समझ सकें और महसूस कर सकें तो आप उसे व्यवहार के अन्दर स्वयं नियंत्रित कर सकते हैं। इसका पूरा अभ्यास हमारी शैक्षिक प्रक्रिया में होना चाहिए। चाहे हम कक्षा में पेंसिल बांट रहे हैं चाहे हम खिड़की के पास बैठ रहे हों या दरवाजे के पास। इनके लिए एक सतत अवसर मिले जिसमें हम अपने-आपको जान सकें। यानी, हम किसी के कहे बिना कि तुम कचरा मत फैलाओ, स्वयं इसलिए सफाई रखें कि साफ-सुथरा देखने में हमें सुन्दरता महसूस होती है।

मेरा मानना है कि शिक्षा ज्ञान के साथ कुछ ज्यादा हस्तक्षेप करती है लेकिन शिक्षा को भावनाओं और व्यवहार को भी साथ लेकर चलती है। व्यवहार में आना जरूरी है क्योंकि यदि कोई गाली दे रहा है तो हम कहेंगे कि यह कैसा शिक्षित व्यक्ति है, शिक्षा में हम ज्ञान तक पहुंचने की क्षमता के लिए काम करते हैं। क्योंकि ज्ञान तो लगातार बढ़ रहा है। ज्ञान के विश्लेषण करने की क्षमता और इसके बाद नतीजे निकालने की क्षमता को निखारने की जरूरत है। इसके बाद आती है ज्ञान में योगदान करने की क्षमता। शिक्षा को हमेशा ज्ञान में योगदान कर पाने की क्षमता को बढ़ावा देना चाहिए। इसके बाद हासिल किए गए ज्ञान के अनुसार कर्म/व्यवहार करने का साहस पैदा करना चाहिए। साहस इसलिए कि यह आदत का प्रतिकार करने के लिए होता है। सबसे पहले यह जानने की जरूरत होती है कि व्यक्ति की खुद की क्या जरूरत है। जब व्यक्ति को उसकी जरूरत महसूस होगी तो वह प्रयास करेगा, उसमें ऊर्जा आएगी और उससे उत्प्रेरणा मिलेगी। जरूरत उत्प्रेरणा की तरफ ले जाएगी और बिना उत्प्रेरणा के कर्म होगा ही नहीं। जब हम यह कहते हैं कि बच्चे नहीं सीख रहे हैं तो इसका मतलब है कि बच्चों की जरूरत कुछ अलग है।

प्रश्नः स्कूली शिक्षा के संदर्भ में इसे कैसे समझे?

उत्तरः स्कूली शिक्षा में अधिकांश चीजें बच्चों की जरूरत की अनदेखी करते हुए हो रही हैं, हम उन्हें जो सिखाते हैं वह उनके व्यवहारिक जीवन से अलग होता है। अतः वे उस सिखाई गई जानकारी को रटकर जवाब देना सीख लेते हैं। इसी ज्ञान की जांच भी की जाती है जिसके आधार पर उन्हें पास-फेल करते हैं।

हमारे काम के दौरान एक अनुभव उत्साहित करने वाला रहा है। एक स्कूल में लड़कियों को भ्रमण पर ले जाने का प्रावधान कार्यक्रम में था। हमने उनसे पूछा, ''कहां चलें?'' लड़कियों ने कहा कि हमें तो ताजमहल देखना है। उन्होंने कहा कि हमने ताजमहल कभी नहीं देखा और हमारे घर वाले हमें कहीं जाने भी नहीं देते हैं जबकि हिन्दुस्तान से बाहर के लोग इसे देखने आते हैं। हमने कहा कि ठीक है हम ताजमहल चलेंगे लेकिन वहां जाने से पहले ताजमहल के बारे में जानना जरूरी है। हमने यह जानना शुरू किया कि ताजमहल कहां है, किसने बनाया और कब बनाया आदि-आदि। सभी लड़कियां ताजमहल से जुड़ी जानकारियां जुटाने लग गईं। उन्होंने 23 किताबें देखीं। पुस्तकालय से किताबें लाए, इतिहास की किताबों में पढ़ा। और उन्होंने बहुत ही सुन्दर प्रोजेक्ट ताजमहल पर लिखा कि बस में जाएंगे तो कितना पैसा लगेगा, रेल से जाएंगे तो कितना लगेगा। यह सब उन्होंने अपने आप पता लगा लिया। मेरे कहने का अर्थ यही है कि जरूरत के अनुसार सिखाया जाएगा तो बच्चे स्वयं ही उत्साह से सीखेंगे।

एक दिन मैंने कहा कि मैं भूटान गई थी। उन्होंने कहा कि यह कहां है। मैंने कहा कि पता करते हैं। हम एक एटलस लेकर आए और एटलस के इंडेक्स में देखा कि *बी* पर होगा। दूसरी लड़की ने कहा कि मैं इसमें बांग्लादेश देखूं। *एटलस की इंडेक्स में बी* से जितने भी देश थे उन्होंने तुरंत देख लिए। सीखने के प्रति यदि जोश होता है तो सीखना होता है। उत्प्रेरणा ही मुख्य है और वह भावना पर आधारित होती है। यदि ज्ञान में भावना नहीं है तो ज्ञान की खोज नहीं हो पाएगी। रास्ता एक चीज है लेकिन रास्ते पर जाने की इच्छा दूसरी चीज है।

इसे भारतीय परंपरा में बेहतर तरीके से समझाया गया है। भारतीय दार्शनिक परंपरा में कर्म का सिद्धान्त (थियरी ऑफ एक्शन) बहुत महत्वपूर्ण है। यदि इसे चार्ट बनाकर सरल तरीके से समझें तो इस सिद्धान्त के चार्ट में पहला कॉलम है इच्छा का, दूसरा कॉलम है संकल्प का। इसके बाद है कर्म और अंत में है फल का कॉलम। इच्छाएं अनेक हैं और एक-दूसरे में गुंथी हुई हैं। जैसे कि मैं बात करना चाहती हूं और चुप भी रहना चाहती हूं। मैं सोना भी चाहती हूं और समान्तर रूप से काम भी करना चाहती हूं। हमारी विविध इच्छाओं में से ही एक संकल्प बनता है जो अंततः कर्म को प्रेरित करता है। संकल्प की जड़ें तो इच्छा में ही हैं। बिना इच्छा के संकल्प हो ही नहीं सकता। लेकिन जब तक संकल्प नहीं है या निर्णय नहीं है तब तक हम उसे कर्म नहीं कहते। मान लीजिए, मैं अपने हाथ में चाय का गिलास लिए खड़ी हूं और कोई मुझमें धक्का दे दे और उसकी वजह से आपके ऊपर चाय गिर जाए तो यह कर्म नहीं माना जाएगा। यदि कर्म है तो उसका कुछ न कुछ फल तो होगा ही। फल इस दुनिया में होता है और उसे बहुत-सी चीजें प्रभावित करती हैं। इसलिए जरूरी नहीं कि हमने जैसा सोचा है वैसा फल मिले। इच्छा से लेकर कर्म तक तो कर्ता करता है लेकिन कर्म के फल में दुनिया की बहुत-सी ताकतें काम कर रही होती हैं। ज्ञान कार्य-कारण संबंध को खोजना भी है कि क्या करने से क्या होता है। कुछ लोग कहते हैं कि भारतीय चिन्तन परंपरा में शिक्षा का दर्शन नहीं है। यदि भारतीय परंपरा में कर्म का दर्शन है तो शिक्षा दर्शन भी है।

प्रश्नः शिक्षा में मूल्यों या सद्गुणों की शिक्षा किस प्रकार की जाए?

उत्तरः हमारे फोकस समूह में यह बहुत ही महत्वपूर्ण सवाल था कि सद्गुण और दुष्टता के बारे में कैसे सिखाएं। हमारे सामने एक बड़ी समस्या यह थी कि आजकल कुछ लोग किसी भी तरीके से जल्दी पैसा कमाना चाहते हैं या कुछ भी करके समाज में ऊंचा स्तर पाना चाहते हैं। हम लोगों का मत था कि सद्गुण को आप सिखा नहीं सकते। ऐसा हो सकता है कि कुछ करने से तात्कालिक सफलता मिल जाए लेकिन उसके बाद क्या होता है? आप इसे ऐतिहासिक तौर पर दिखा सकते हैं कि ऐसा-ऐसा करने से सफलता मिल तो जाती है लेकिन उसके बाद क्या हुआ? यदि लोगों को यातना दी जाती है तो फिर क्या होता है? अतः आपको कहना होगा कि ईमानदारी बेहतरीन नीति है या शायद इसीलिए भारतीय चिंतन परंपरा में सत्यमेव जयते कहा गया होगा। ये उक्तियां हैं लेकिन क्या ये निरर्थक हैं?

सद्गुण की बातचीत एक सामाजिक या राजनैतिक संदर्भ में हो सकती है। सदगुण का अर्थ यह है कि क्या आप केवल अपनी दृष्टि से देख रहे हैं या उस दृष्टि से देख रहे हैं जिसमें कि दूसरे को वही हैसियत मिले जो आपको मिले। नैतिकता का अर्थ यही है। शिक्षा की प्रक्रिया में व्यक्ति यही सीखे कि मैं जितना महत्वपूर्ण हूं दूसरा व्यक्ति भी उतना ही महत्वपूर्ण है। ऐसा नहीं हो सकता कि कक्षा में मैं अपने जूते पहनकर आऊंगा लेकिन बच्चे अपने जूते बाहर ही खोलेंगे। आपको दूसरे को संदर्भ में रखकर अपना पूरा कर्म या व्यवहार निर्धारित करना होगा। दरअसल, नैतिकता में सद्गुण ही तो हैं। यदि नैतिकता शब्द का इस्तेमाल करना ही है तो फिर शिक्षा की प्रक्रिया ऐसी हो जिसमें नैतिकता प्रतिष्ठित हो और वही सद्गुण है।

आप शिक्षा के उद्देश्यों से जीवन दर्शन की ओर जाते हैं और आप इससे बच नहीं सकते। ये सभी बातें पाठ्यचर्या दस्तावेज में नहीं लिखी जा सकतीं क्योंकि यह स्पष्ट है कि हम बहुत ही सीमित काम कर रहे हैं। यदि हम किसी व्यक्ति के जीवन में हस्तक्षेप कर रहे हैं तो क्या हम उन्हें किसी भी दूसरे व्यक्ति की तरह बनाने की कोशिश कर रहे हैं या हम उसे पर्याप्त मौके देकर उसके विशिष्टत्व को उभारने का काम कर रहे हैं। इसका मतलब है कि हरेक व्यक्ति अपने तरीके से समाज में योगदान कर सकता है। कोई व्यक्ति किसी एक तरह से योगदान कर सकता है जबकि दूसरा व्यक्ति किसी दूसरी तरह से योगदान कर सकता है। यदि कोई व्यक्ति दूसरा पक्ष भी रख रहा है तो वह भी एक तरह का योगदान है।

प्रश्नः स्कूलों में जिस तरह मूल्य शिक्षा या सद्गुण की शिक्षा दी जा रही है, उसके बारे में आप क्या कहेंगी?

उत्तरः स्कूलों में सद्गुण की शिक्षा जिस तरह दी जाती है उसके बारे में मेरा मानना थोड़ा अलग है। मैं इस बात में कम ही दिलचस्पी रखती हूं कि दूसरे क्या गलत कर रहे हैं। मेरी दिलचस्पी इसमें है कि मैं जो सोचती हूं क्या मैं वह

कर रही हूं। मैं अपनी ऊर्जा इसमें लगाना चाहती हूं कि मैं किसमें विश्वास करती हूं। दूसरों की आलोचना में बहुत ऊर्जा लगानी होती है, इसके लिए यह भी समझने की जरूरत होती है कि वे ऐसा किन दबावों में कर रहे हैं। इसमें पहली बात तो यह है कि क्या मैं समझ भी रही हूं कि हो क्या रहा है। किसी चीज को नकार देना सबसे आसान काम है। जय जरूरी है कि किसी विचार को खारिज करने से पहले मैं उसे समझूं। सहृदयता से और उनकी दृष्टि से देखूं। हो सकता है कि कुछ अच्छी चीजें भी हो रही हों और वे हमारी नजर से छिप रही हों क्योंकि हो सकता है कि वे मेरे तर्क के लिए मुफीद न हों।

मैं एक बार सड़क किनारे किसी स्कूल में रुक गई। संयोग से वहां एक अप्रशिक्षित शिक्षक बच्चों को पढ़ाता था। वह शिक्षक बच्चों की हाजरी नहीं लेता था। उसने बच्चों की हाजिरी का एक अपना तरीका निकाल रखा था। उसने सभी बच्चों के नाम के कार्ड बना रखे थे और रोजाना सुबह उन कार्ड को कक्षा के बाहर रख देता था। बच्चे आते हुए अपने नाम का कार्ड उठाकर कक्षा में बैठ जाते थे। बच्चों को अपना कार्ड ढूढ़ने में बड़ा मजा आता है। शिक्षक बाद में कभी जाकर देख लेता था कि बाहर किस-किस नाम के कार्ड बच गए हैं और उससे हाजरी कर लेता था। यह बहुत ही रचनात्मक तरीका है। हो सकता है कि किन्हीं जगहों पर कुछ लोग अच्छा कर रहे हों। अक्सर हम बहुत ही आसानी से कह देते हैं कि सब गलत हो रहा है, जैसे पढ़ाना चाहिए उस तरह नहीं पढ़ा रहे हैं। हमारे यहां यह बहुत 'अनुचित' हो रहा है कि हम शिक्षकों को भी एक ही तरह से काम करने के लिए बाध्य कर रहे हैं।

प्रश्नः यह कहा जाता है कि मूल्य शिक्षा को शिक्षा प्रक्रियाओं का अंदरूनी हिस्सा बनाना होगा। इसे कैसे समझें?

उत्तरः यानी, इसे शिक्षा की प्रक्रिया का हिस्सा बनाना होगा। ऐसा नहीं हो सकता कि हम किसी चीज के लिए दूसरों को मना कर रहे हैं लेकिन खुद उससे उल्टा कर रहे हैं। मसलन, यदि बच्चे कक्षा में जूते-चप्पल पहनकर नहीं जा सकते तो शिक्षक के लिए भी यह जरूरी है कि वह भी अपने जूते कक्षा के बाहर ही उतारे। इसी तरह ऐसा नहीं हो सकता कि खुद मूंगफली के छिलके फैला रहे हैं और बच्चों को सफाई के लिए कह रहे हैं। इसका मतलब है कि हम जो कुछ भी कह रहे हैं उसका स्वयं भी पालन करें। यह तो एक बात है लेकिन सभी मूल्य शिक्षा की प्रक्रिया में समाहित होने चाहिएं।

प्रश्नः क्या इसे विषयों के साथ जोड़कर देख सकते हैं?

उत्तरः पढ़ाने की विधा के साथ जोड़ सकते हैं। विषयों की विषयवस्तु चुनते हुए संतुलन और समंजस्य स्थापित करना होगा। लेकिन इसका ज्यादा हिस्सा प्रक्रिया में है। मूल्य शिक्षा अलग नहीं है वह आपके विषय चयन में है। विज्ञान में आप जो सोच रहे हैं वह विचार आज सही हो सकता है, लेकिन संभव है कि भविष्य में इससे भिन्न विचार भी सत्य हो। विज्ञान के इतिहास में तो ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। कहानियों पर चर्चा के जरिए बहुत से मूल्यों पर बात की जा सकती है। इसलिए आपको विज्ञान में भी अपने दावों के प्रति मूलतः विनम्र होना चाहिए और अपनी जानकारी के अहंकार को एक जगह पर सीमित करना चाहिए। जैसा कि कहा जाता है कि सभी आनुभविक कथनों को सार्वभौमिक नहीं कहा जा सकता। यदि आप कोई ऐसा दावा करना चाहते हैं तो आपको विनम्र होना चाहिए और इसे ही शिक्षा प्रक्रियाओं का हिस्सा बनाने की जरूरत है। ◆

परिचयः शारदा जैन राजस्थान की जानी-मानी शिक्षाविद हैं, शिक्षा के लक्ष्यों पर गठित राष्ट्रीय फोकस समूह की सदस्य रही हैं। संधान, जयपुर की निदेशक हैं।

एक स्कूल मैनेजर की डायरी के कुछ पन्ने-XVIII

सत्ता, सियासत की तहें और स्कूली संगठन

फ़राह फ़ारूक़ी

मौजूदा लेख में ज़िक्र है कि किस तरह स्कूल की ख़स्ताहाल बिल्डिंग के ईद-गिर्द सियासत खेली गई। इस सियासत के खेल में इलाक़ाई नेता, वालदैन, आर.डब्ल्यू.ए. के लोग, टीचर, मैनेजमेंट कमेटी, मौहल्ले के लोग शामिल थे। इस वाक़िये ने कई चीज़ों से धुंध और पर्दे साफ़ करने का काम किया। जो दो अहम् चीज़ें बेनक़ाब हुईं उनमें शामिल हैः एक, किस तरह स्कूल एक संगठन या आयोजन के रूप में काम करता है। इसमें भागीदारी रखने वाले लोगों का स्कूल के बारे में, इससे अपने रिश्ते के बारे में या इसके मक़सद के बारे में क्या एक मिला-जुला तसव्वुर होता है या नहीं। ज़िक्र है कि स्कूल से जुड़े लोगों की पहचान, सत्ता और सत्ता का एहसास किस तरह की ग़ैर-बराबरियों और सियासी पेचेदगियों से रूबरू करवाता है। दूसरी चीज़ जो साफ़ तौर पर उभरी, वह थी मुसलमानों की अपनी पहचान और तह़फ़ुज़ के बारे में फ़िक्र। यह साफ़ है कि तह़फ़ुज़ की कमी के शिकार लोगों को किस तरह चुनाव की राजनीति का मोहरा बनाया जाता है।

जैसा कि मैं पहले भी लिखती रही हूं कि हमारे स्कूल की सौ साल पुरानी इमारत जहां ज़्यादातर कक्षाएं लगती हैं बहुत ख़स्ताहाल है। मरहम-पट्टी जो लगाकर चलती रहती है कहां तक साथ दे सकती है। मुझ पर तो हर बरसात में ख़ौफ़ तारी रहता ही था कि कहीं कोई हादसा न पेश आ जाए, अचानक हमारी सोसाइटी (जो स्कूल चलाती है) भी जाग गई। बिल्डिंग की हालत देखकर स्कूल की बिल्डिंग कमेटी की, जिसमें प्रिंसिपल साहब, मैं और सोसाइटी के दो साथी शामिल थे, यह राय हुई कि हमें बच्चों की सलामती और तह़फ़ुज की ख़ातिर यह बिल्डिंग छोड़ देनी चाहिए। यहां कक्षाएं लगाना ख़तरनाक साबित हो सकता है। आगे की कार्यवाही के तहत स्कूल की मैनेजिंग कमेटी ने यह फ़ैसला किया कि हमें शिक्षा विभाग से दरख़ास्त करनी चाहिए कि जब तक हमारी नई इमारत नहीं बन जाती हमें किसी और सरकारी स्कूल में (जहां सिर्फ़ सुबह स्कूल चलता हो) शाम की शिफ्ट में कक्षाएं लगाने की इजाज़त दे दें। मैंने इस सिलसिले में शिक्षा विभाग को ख़त लिखा कि इंजीनियरों की रिपोर्टों के हिसाब से हमारे स्कूल की इमारत बोसीदा-ख़तरनाक हालत में है। हमारी मैनेजिंग कमेटी ने इसे हर हाल में 31.3.2014 तक छोड़ने का फ़ैसला किया है। हमें आर्ज़ी तौर पर अपनी कक्षाएं कहीं और लगाने की इजाज़त दे दी जाए। जिस स्कूल के लिए दरख़ास्त दी थी वो हमारे स्कूल से बस 500 मीटर के फ़ासले पर था। ख़त में यह हवाला भी दिया कि पहले शिक्षा विभाग इस तरह की मदद सरकारी मदद से चलने वाले एक और स्कूल की कर चुका है। दरख़ास्त देने से पहले हमने स्कूल इन्तज़ामिया कमेटी (SMC), जो शिक्षा अधिकार क़ानून के तहत बनाई गई थी, की मीटिंग भी बुलाई। मक़सद था कि वालदैन की राय शामिल कर ली जाए। वालदैन का सुझाव था कि स्कूल के बाहरी मैदान में

नोटः यह लेख शिक्षा विमर्श के जनवरी-फरवरी, 2015 अंक में छपे लेख XIV का दूसरा हिस्सा है।

टेंट लगाकर कक्षाएं चलाएं और साथ ही नई इमारत भी बनती रहे। यह कहने पर कि इमारत बनने में भी दुश्वारी होगी और सरिये-पत्थर से बच्चों को चोट भी लग सकती है, पास के स्कूल में शिफ्ट करने के लिए राज़ी तो हो गए थे। एस.एम.सी. के टीचर मेम्बर भी इस तजवीज़ से राज़ी से ही थे।

शिक्षा विभाग की डायरेक्टर से भी मैंने और सोसाइटी की सैक्रेटरी साहिबा ने मुलाक़ात की थी। शुरू में वह जगह मुहैय्या करवाने के लिए राज़ी सी लगी थीं, लेकिन बाद में उनका रवैय्या बदला हुआ महसूस हुआ। इस बीच शिक्षा के मैदान से जुड़े कुछ लोगों ने हमारी मैनेजमेंट और शिक्षा विभाग के ख़िलाफ़ हाई कोर्ट में पी.आई.एल. (PIL) डाली। उन्होंने अपील की थी कि हमारे स्कूल की बिल्डिंग ख़तरनाक बोसीदा हालत में है और इससे बच्चों को ख़तरा है, इसलिए हमें स्कूल चलाने के लिए आर्ज़ी तौर पर कोई जगह मुहैय्या करवाई जाए। क्योंकि अपील करने वालों ने हमसे स्कूल के फ़ोटो, इंजीनियरों की रिपोर्ट और शिक्षा विभाग को भेजे गए ख़त, सूचना अधिकार के तहत लिए थे, मौहल्ले वालों को शक था कि यह न्याय याचिका खुद हमने अपने ऊपर पड़वाई है ताकि हमें जल्दी राहत मिल सके। इस याचिका के बाद सियासत गरमाई। लोगों और समूहों की गर्मी उनके स्कूल और समाज के रुत्बे-हैसियत का एक अक्स ही था।

बिरादरी की फ़िक्रें

यह सवाल तो मैं अपने एक लेख में पहले उठा चुकी हूं कि स्कूली बिरादरी के मायने सिर्फ़ वालदैन से कहीं ज़्यादा वसी हैं। इसमें वालदैन के अलावा स्कूल से रिश्ता रखने जताने वाले मौहल्ले के लोग भी शामिल हैं। पी.आई.एल. के बाद तो जैसे मौहल्ले वालों ने स्कूल पर हमला ही बोल दिया। शिकायत थी कि हमने शिक्षा विभाग को जगह के लिए क्यों लिखा और कोर्ट में केस कैसे पहुंचा। चाहते थे कि नई इमारत बने ज़रूर लेकिन स्कूल भी वहीं चलता रहे। कहना था, ''आपने इलाक़े के लोगों से एक बार पूछा तो होता। आपको यहां पर हर एक जाहिल ही नज़र आया। लोकल काउन्सिलर को ही साथ ले लेते''। तरह-तरह से स्कूल पर हक़ जताने की कोशिश की, ''यह स्कूल हमारे बुजुर्गों ने बचाया था। यहां शरनार्थी घुस गए थे। हमारे बुजुर्गों ने बड़ी मुश्किल से उन लोगों को यहां से निकाला था।''

शिकायतें कई तरह के शक-शुबह और दलीलों पर टिकी थी। ऊपर से हमारी इन्तज़ामिया कमेटी ने मौहल्ले वालों से दूरी बना रखी थी। मैनेजिंग कमेटी बिल्डिंग की बोसीदा हालात से इतनी डरी हुई थी कि बच्चों को मुन्तक़िल करना चाहती थी। असल में (खुदा ने ख़ासता) किसी भी हादसे की सूरत में ज़िम्मेदारी भी मैनेजमेंट ही की थी। बिरादरी के इस सवाल का- हमारी नई इमारत का नक़्शा भी म्युनिसिपल कार्पोरेशन से पास नहीं हुआ था, साथ ही नई इमारत बनाने के लिए हमारे पास पूंजी भी नहीं थी- हमारे पास कोई ठोस जवाब नहीं था। सोचा था कि पुरज़ोर कोशिश करेंगे कुछ न कुछ हो जाएगा। लोगों का यह भी कहना था, ''आप लोगों ने इतनी जायदाद पर कब्ज़ा करवा लिया, छुड़ा नहीं पाए, जब छोड़कर जाएंगे तो इस पर भी कब्जा हो जाएगा''। स्कूल ही के दो मुलाज़िमों (एक टीचर और एक क्लर्क) के परिवार जिन्हें रहने के लिए जगह दी गई थी, पिछले बीस साल से जगह पर क़ाबिज़ थे। सोसाइटी इनसे स्कूल के यह हिस्से ख़ाली नहीं करवा पाई थी। एक और फ़िक्र की मिसाल सामने मौजूद थी। पास ही का एक सरकारी मदद से चलने वाला स्कूल पिछले 38 साल से टैंटों में चल रहा है। यह पहले एक अच्छी पुख़्ता इमारत में चलता था। इमरजेन्सी के दौरान उस इमारत को ढाकर फ्लैट बना दिए गए और यह वादा किया गया कि छः महीने के अंदर स्कूल की नई इमारत पास के मैदान में बना दी जाएगी। यह सरकारी वादा आज भी एक धोखा है। लोगों का मानना है कि सरकार नहीं चाहती कि मुसलमानों की इल्मी-माली हालत सुधरे। उन्हें ख़ुद ही यह फ़िक्र करनी होगी।

लोगों को तकलीफ़ इस बात की थी कि कहीं ''स्कूल दूर चला गया तो बहुत बच्चे स्कूल छोड़ देंगे।'' कहना था, ''अगर बच्चे इधर-उधर हो गए तो फिर पढ़ाई की तरफ़ राग़िब नहीं होंगे, गोश्त काटते हुए मिलेंगे।'' इशारा स्कूल के पास के क़साबपुरा इलाक़े की तरफ़ था जहां गोश्त का काम होता है और बहुत से बच्चे पढ़ाई न करने की सूरत में जल्दी इस काम से जुड़ जाते हैं। ये भी कहना है, ''वैसे भी हमारे बच्चे पढ़ नहीं पा रहे हैं, चमार-चूड़ों के पढ़ रहे हैं''। अगर आप ग़ौर करेंगे तो दो चीज़ें साफ़ नज़र आती हैं। इनमें शामिल है सोसाइटी और मैनेजमेंट की बिरादरी से दूरी और

इसके साथ जुड़ी बिरादरी की 'अपनी' क़ौम के बच्चों के लिए फ़िक्र। दूरी की वजह से एक-दूसरे के सादिक़ जज़्बों को न तो समझ पाए न भरोसा ही कर पाए। जैसा कि आप जानते हैं कि इलाक़े के बहुत सारे लोग एक ज़माने से बदहाली का शिकार हैं, अब इलाक़े मे इल्म हासिल करने को लेकर बेदारी बढ़ी है। यह भी ख़ूब एहसास है कि तमाम पिछड़ते वर्गों को पॉलिसियों के तहत सरकारी मदद हासिल है और उनमे सामाजिक गति नज़र आती है जबकि इलाक़े के लोगों की स्थिति में गिरावट ही है।

क्योंकि दूरियां, भरोसे को जगह नहीं देती हैं तो इस अपने इदारे को 'बचाने' की मुहिम सी इलाक़े में छिड़ गई। इस बेपनाह अपनाइयत में अलगाव की बू आती है। यह अलगाव और बेबसी का एहसास शक-शुबह को और हवा ही देता है। कुछ बेबुनियाद अफ़वाहें जो इस दौरान इलाक़े में फैलीं उनमें शामिल थीं, ''अगर इमारत अच्छी बन गई तो फ़ीस बढ़ जाएगी, हमारे बच्चे इसमें नहीं पढ़ पाएंगे'', ''यह स्कूल प्राइवेट बन जाएगा''। यह एहसास कि ग़रीब हाशियेकारों के बच्चों को ख़स्ताहाल-ख़राब स्कूल ही मुहैय्या हो सकता है बरसों के ऐसे ही फ़र्क करने वाले तजुरबों का नतीजा है। क्योंकि बिरादरी के अलगाव और गुस्से को वोटों में बदलने वाले नेता भी इलाक़े में मौजूद हैं तो यह अफ़वाहें भी फैलीं, ''स्कूल यहां से चला गया तो यहां मॉल बनेगा'' या फिर ''मैनेजमेन्ट, लैण्ड माफ़िया से मिल गई है और उन्होंने स्कूल सात करोड़ में बेच दिया है''। बताइए, वक़्फ़ बोर्ड की इस जगह का जिसकी मुतावल्ली सोसाइटी है ऐसा इस्तेमाल कौन कर सकता है भला।

ऊंची सियासतः वोटों की राजनीति

अलगाव के शिकार लोगों को 'लोकतंत्र' का मोहरा तो बनाया जा सकता है, यह काम हमारे इलाक़े के विधानसभा अध्यक्ष और लोकसभा के उम्मीदवार ने अंजाम दिया। दिल्ली में लोकसभा चुनाव से पहले, बल्कि कोड ऑफ़ कण्डक्ट लागू होने से कुछ ही पहले, मंत्री जी ने हमारे स्कूल में बीस कम्प्यूटर भिजवाए। इसकी दरख़ास्त तो हमारे प्रिंसिपल साहब ने बहुत पहले दी थी, याद उन्हें 'सही मौक़े' पर आया। उनके चेले-चपाटों ने तजवीज़ रखी कि हम मंत्री जी को स्कूल में आमंत्रित करें, उनका शुक्रिया अदा करें और इमारत बनाने के लिए पूंजी की दरख़ास्त करें। कमज़ोर को बहकाना कहां मुश्किल है, भई हम राज़ी हो गए। लेकिन मंत्री जी की गुर्बानी सुनने भीड़ इकट्ठा नहीं हो पाई। इसलिए उन्होंने दर्शन देना मुनासिब नहीं समझा और इलाक़ाई विधान सभा अध्यक्ष को भेज दिया। मैंने उनका इस्तक़बाल किया और अपनी तक़रीर में इलाक़े के लिए स्कूल की एहमियत का ज़िक्र करते हुए यह शिकायत भी की, कि दिल्ली सरकार को हमने फ़ण्ड के लिए लिखा था लेकिन उन्होंने इस तारीख़ी स्कूल के लिए कोई इंतज़ाम नहीं किया। अध्यक्ष साहब को अपनी वोट बैंक के सामने यह शिकायत बहुत नागवार हुई और उन्होंने अपनी तक़रीर में मुझ पर हमला बोल दिया। कहा, ''आप इस स्कूल को सियासत का मोहरा न बनाएं तो अच्छा होगा''। उल्टा चोर कोतवाल को डांटे वाला हिसाब-किताब था। आगे बोले, ''जहां तक इमारत की तामीर का ताल्लुक़ है आपने मौहल्ले के इज़्ज़तदार लोगों को साथ लेना ही नहीं चाहा वरना वे ये लोग हैं जो खड़े-खड़े इमारत बनवा देते। इन्होंने कितने ही इस तरह के नेक काम करवाए हैं।'' अध्यक्ष साहब भांप चुके थे कि स्कूल को वोट बटोरने का ज़रिया बनाया जा सकता है। मौहल्ले के लोगों की जय-जयकार के साथ फूलों से लदे-फंदे जनाब रुख़सत तो हो गए लेकिन स्कूल को 'दुश्मनों' से बचाने की मुहिम की सदारत हाथ लग गई थी। पता चला शाम में उनके यहां बैठकें चल रही हैं और नई अफ़वाहें फैल रही हैं। इस 'गठबंधन' का नतीजा हमें जल्दी ही कोर्ट में देखने को मिला।

गवर्नर साहब की इनायत और नया स्कूल

सोसाइटी की बच्चों को ख़तरनाक इमारत से हटाने की कोशिशें लगातार जारी थीं। इस सिलसिले में गवर्नर साहब से भी दरख़ास्त की गई थी। इसका नतीजा यह हुआ कि शिक्षा विभाग ने हमें एक स्कूल में शाम के वक़्त कक्षाएं लगाने की इजाज़त दे दी। लेकिन यह वह स्कूल नहीं था जिसके लिए हमने दरख़ास्त दी थी। यह हमारे स्कूल से तक़रीबन डेढ़ किलोमीटर की दूरी पर, सदर थोक बाज़ार के बीचों-बीच स्थित था। यह ख़बर मिलने पर तो टीचर और बिरादरी

दोनों तरफ़ ही आफ़त आ गई। सुबह की शिफ्ट वाली महिला टीचर जो शाम में कक्षाएं लगाने के खिलाफ़ थीं अब तो और परेशान हो गईं। वालदैन को ख़बर मिली तो वह भी पलटनों में स्कूल आए और सोसाइटी-इन्तज़ामिया वग़ैरा के लोगों से मिलना चाहा।

मैंने इस सिलसिले में सैक्रेटरी साहिबा की मीटिंग स्कूल स्टाफ़ और बिरादरी के लोगों से करवाई। असातूज़ा का कहना था कि अगर स्कूल शाम की शिफ्ट में चलेगा और वह भी इस जगह से इतनी दूर तो छोटे बच्चे स्कूल छोड़ देंगे। क्योंकि बड़ी कक्षाओं के 65-70 फ़ीसदी बच्चे अपने परिवार की आजीविका में हाथ बंटाते हैं तो वह भी स्कूल छोड़ सकते हैं। इन बातों से जुड़ी बड़ी फ़िक्र यह थी कि स्कूल में बच्चे अगर कम हो गए तो शिक्षा विभाग उसी हिसाब से काफ़ी अध्यापकों को सर्पलस (surplus) क़रार देकर किसी और स्कूल में भेज देगा। यह तो फ़ितरती बात है कि जब हम एक जगह से लम्बे अरसे तक जुड़े रहते हैं तो उसी में आसानी और सुकून महसूस करते हैं। स्टाफ़ को भी स्कूल से एक लगाव तो था ही। साथ ही सुबह की शिफ्ट की बजाय शाम में काम करने से घरेलू जिन्दगी तो उथल-पुथल होनी ही थी। इसलिए उन सबकी तजवीज़ थी कि ज़्यादातर कक्षाएं जो स्कूल का मुक़ाबलतन नया हिस्सा था वहां लगा लें। इस इमारत में 5-6 कमरों के अलावा तीन प्रयोगशालाएं, कम्प्यूटर लैब, और पुस्तकालय हैं। बताइए इस एक मंजिला इमारत में अठारह और कक्षाएं कहां लगा लेते। फिर भी यह तय किया कि हमारी ग्यारहवीं-बारहवीं कक्षाएं यहीं चलेंगी और स्कूल का ऑफ़िस भी यहीं रहेगा। इस पर भी बिरादरी को और स्टाफ़ इत्मिनान नहीं था। मैंने अपने स्टाफ़ को याद दिलाया कि वे लोग भी लगातार मेरा ध्यान बोसीदा इमारत की तरफ़ दिलाते रहे हैं। यह भी इत्मिनान दिलाने की कोशिश की कि अगर बच्चों की तादाद कम हो भी गई तब भी हम उन्हें कहीं और नहीं जाने देंगे उसी तरह जैसे हमने पुनीता रानी जो सर्पलस क़रार दे दी गई थीं, स्कूल में रोक रखा है। इमारत बनने के बाद तो बच्चों की तादाद बहुत बढ़ जाएगी। मैं अपने स्टाफ़ को बहला-बहका नहीं रही थी, यह कहने की कोशिश थी कि ऐसी सूरत में मेरी ज़िम्मेदारी और बढ़ जाएगी लेकिन मैं उनके साथ हूं।

क्या करें मैं और सैक्रेटरी मैडम हमज़बान नहीं थे। टीचर हज़रात को हमारे रुत्बे, फैसलों में दख़ल और पकड़ का भी ख़ूब अंदाज़ा था। सैक्रेटरी के कहने पर कि वे अगर सर्पलस भी हो जाएंगे तो इन्तज़ामिया को कुबूल है, बच्चों की सलामती ज़्यादा ज़रूरी है। एक घबराई सी ख़ामोशी छा गई। भई, असल में किसी भी हादसे की सूरत में ज़िम्मेदारी भी सोसाइटी और मैनेजमेंट की ही थी। यानी अगर बिल्डिंग की छत गिरती है और किसी बच्चे या बड़े को चोट लगती है तो सज़ा हम मैनेजमेंट या सोसाइटी के लोगों को ही झेलनी पड़ेगी। वैसे तो सैक्रेटरी साहिबा की दो टूक अंदाज़ में कही गई बात मुनासिब थी। क्या करें इससे अगर स्टाफ़ को अपनी कमज़ोर हैसियत का अंदाज़ा हुआ या फिर यह लगा कि मैनेजमेंट की नज़र में उनकी क़दर नहीं है। मैं सिर्फ़ यह बैठक ही करवा सकती थी ताकि एक-दूसरे के नज़रिये को समझ सकें, न अंदाज़ बदल सकती थी और न ही सूरतेहाल बदल सकती थी।

मैं, सैक्रेटरी मैडम और प्रिंसिपल साहब जब नया स्कूल देखने पहुंचे थे तब अंदाज़ा हुआ था कि यह मुश्किल विकल्प है। सदर थोक बाज़ार के बीचों-बीच स्थित इस स्कूल के आसपास इतनी भीड़ थी कि रास्ता चलना मुश्किल हो रहा था। उस वक़्त भी महसूस तो हुआ था कि छोटे बच्चों को बहुत परेशानी होगी। दूसरी बात जिस पर हमने ग़ौर किया वह था कि स्कूल के आसपास हिन्दुओं, दलितों की बस्तियां थीं। जब समूहों के बीच सामाजिक फ़र्क की खाई होती है तो इतना रास्ता लांघना भी मुश्किल हो जाता है। शाम में वापस आकर मैंने तमाम मुमकिन परेशानियों का एक ब्यौरा तैयार करके एक चिट्ठी सैक्रेटरी मैडम को भेज दी।

कई बार हम बड़ों की इनायत को फर्ज़ समझकर अपने ऊपर लाद लेते हैं। हमारी सोसाइटी के चेयरमैन भी गवर्नर साहब की इनायत के तले दबे थे, उन्होंने इन दुश्वारियों को नज़रअन्दाज़ कर दिया। कहना था कि बड़ा मक़सद जो कि इमारत बनना था उसे सामने रखना चाहिए। यह छोटी-छोटी चीज़ें तो चलती रहेंगी। एक बार इमारत बन गई तो वह हमारा इस इलाक़े के लिए बड़ा तोहफ़ा होगा। बात अपनी जगह सही थी। लेकिन यह भी देखना होता है कि बड़े मक़सद की तरफ़ बढ़ने के लिए क़दम कितने लोकतांत्रिक और सही हैं। शायद क़दम ही मंज़िल होते हैं। हम अपने सच को औरों का सच या ख़्वाब नहीं मान सकते हैं।

असल में बिरादरी के कुछ लोगों की हरकतों से तो स्कूल और सोसाइटी दोनों परेशान ही रहे हैं। जिसका ज़िक्र मैंने पहले भी किया है। जैसे छुट्टी के दिन स्कूल बाहरी मैदान शादियों-तक़रीबों के लिए किराए पर देता है। छुट्टी के अलावा भी मैदान में तक़रीब करने का आग्रह, मना करने पर हंगामा। साथ ही स्कूल से लगे हुए ऊंचे मकान और कारख़ाने हैं। इमारत बनने पर इनकी खिड़कियां-रौशनदान बन्द हो जाएंगे। सोसाइटी को लगा कि इन सब वजहों से बिरादरी वाले नहीं चाहते कि नई इमारत बने। अब आपसी फ़ासले तो ग़लतफ़हमियां और बढ़ा ही देते हैं।

कोर्ट में जंग

पता नहीं यह इन्साफ़ के नए मंदिर-मस्जिद जहां सुबूतों की बिना पर केस लड़े और जीते-हारे जाते हैं कितना मुद्दों को सुलझा पाते हैं। कोर्ट में पेशियों पर पेशियां चल रही थीं। अपील करने वालों के वकील और जवाबदेहों (यानी स्कूल मैनेजमेंट और शिक्षा विभाग) के वकीलों के अलावा बिरादरी ने अपनी तरफ़ से भी वकील खड़े किए। यह वकील हमारे मंत्री साहब के साहबज़ादे निकले। जी हां, वही मंत्री साहब जिन्होंने स्कूल में कम्प्यूटर भिजवाए थे और हमारे इलाक़े से लोकसभा के उम्मीदवार रहे थे। वे कोर्ट में यह साबित करने में लगे थे कि इन्जीनियरों की रिपोर्ट एक धोखा है, इमारत मज़बूत है, बच्चों को किसी क़िस्म का कोई ख़तरा नहीं है। स्कूल की मैनेजमेंट लैण्ड माफ़िया से मिल गई है और स्कूल को ख़त्म करना चाहती है। यानी, जिन बच्चों और बिरादरी के लिए सोसाइटी और स्कूल काम कर रहे थे वे ही उनके खिलाफ़ कोर्ट में खड़े थे। शिक्षा विभाग ने भी बिरादरी और अध्यापकों के शिकायती ख़त जो हमारे खिलाफ़ लिखे गए थे, कोर्ट में पेश किए। जी हां, हमारे टीचर भी हमारे खिलाफ़ थे और वे सब साथ थे। वैसे भी बच्चों की परवाह और उनकी खुद की परवाह के तार जुड़ रहे थे। एक बड़ी ग़लती जो सोसाइटी ने की वह थी कि उन्होंने बोसीदा इमारत का हवाला देकर, कोर्ट से, स्कूल बन्द करने की दरख़ास्त की थी जो कि कुबूल कर ली गई। हमारे वकील साहब ने शायद यह कोर्ट पर दबाव बनाने के लिए किया ताकि जल्दी फ़ैसला हो जाए। बिरादरी के लोग इस बात से और ज़्यादा नाराज़ हो गए। उन्हें लगा कि हमने बोर्ड कक्षाओं के बच्चों का ख़्याल किए बग़ैर ही स्कूल गर्मी की छुट्टियों से महीना भर पहले बन्द करवा दिया।

बिरादरी और अध्यापकों के ख़त के कुछ अंश जो उन्होंने उप-शिक्षा-निदेशक को लिखे थे यहां मौजूद हैं। ये ख़त शिक्षा विभाग ने अदालत में पेश किए थे।

बिरादरी का ख़त

...हमें ऐसा लगता है कि इस पूरे काण्ड में किसी भूमि-माफ़िया का बहुत बड़ा हाथ है। हमारी बिल्डिंग सही-सलामत है। हम आपका ध्यान इमारत और स्कूल के बारे कुछ और भी बातों के बारे में दिलाना चाहते हैं।

स्कूल के इस्तेमाल लायक़ न होने की घोषणा में किसी कमेटी को नहीं बनाया गया। गुपचुप तरीक़े से किसी ख़रीदे हुए निजी इंजीनियर से सर्वे का ढोंग करके अपना काम निकाला गया।

सर्वशिक्षा क्या कहने की बात है। जब चाहे कमेटी अपने फ़ायदे के लिए बिल्डिंग को टूटा कहकर हमारे बच्चों के पढ़ने का हक़ छीन ले। हमारी आपसे यही गुज़ारिश है कि हमारे बच्चों की पढ़ाई एकदम शुरू करवाई जाए और स्कूल को यहीं चलने दिया जाए। पुरानी बिल्डिंग की मरम्मत का काम गर्मियों की छुट्टियों में पूरा हो। बिल्डिंग कभी भी शिफ्ट न की जाए।...

अध्यापकों का ख़त

‘‘...प्रधानाचार्य के आदेशानुसार सभी छात्रों की पढ़ाई तुरन्त रोक दी गई है क्योंकि प्रधानाचार्य महोदय के अनुसार स्कूल की बिल्डिंग जर्जर हालात में पहुंच गई है। महोदया, इस संबंध में हम स्कूल के अध्यापक आपका ध्यान निम्नलिखित बिन्दुओं पर दिलाना चाहते हैः

1. स्कूल की नई बिल्डिंग एकदम पक्की और दुरुस्त हालत में है।
2. नई बिल्डिंग में लगभग 10 कमरे हैं जिनमें कुछ कमरे तो इतने बड़े हैं जिनमें लगभग सौ छात्र तक एक साथ बैठ सकते हैं।

3. यदि भवन निर्माण के बहाने छात्रों को शाम की शिफ्ट के किसी स्कूल में भेजा जाएगा तो सभी छात्रों और अभिभावकों को काफ़ी परेशानियों का सामना करना पड़ेगा। हमारे विद्यालय में जो ग़रीब छात्र शाम के वक़्त अपने परिवार की आजीविका को बढ़ाने में हाथ बंटाते हैं उन छात्रों को शाम की शिफ्ट में भेजने के कारण अपनी पढ़ाई बीच में ही छोड़नी पड़ेगी।

4. विद्यालय में छात्र-छात्राएं एक साथ पढ़ते हैं। महोदया, यदि विद्यालय शाम की शिफ्ट में जाता है तो विद्यालय की सभी छात्राओं को सुरक्षा की दृष्टि से विद्यालय छोड़ना पड़ेगा।''

इन ख़तों के अलावा भी मैनेजमेंट के खिलाफ़ और कई दस्तावेज़ अदालत में पेश हुए जिनमें जो मामूली सी फ़ीस स्कूल बच्चों से लेता है उसकी रसीद भी शामिल थी। यह शिक्षा के अधिकार के तहत ग़ैरक़ानूनी सही लेकिन एक सरकारी मदद से चलने वाला स्कूल, अध्यापकों की तनख़्वाह के पांच फ़ीसदी भला कहां से जुटाएगा? ख़ैर यह तो लम्बी बहस है।

जब भरोसा पैदा किए बग़ैर बड़े क़दम उठाए जाते हैं तो यह ही होता है। और भरोसा बातचीत के खुले रास्तों और नज़रियों को समझने तब क़दम बढ़ाने दूसरों के क़दमों को जगह देने से ही बनता है। यह मेरी कोशिश के बावजूद मुमकिन नहीं हो पाया था। तंत्र में जिन्हें रुत्बा और फ़ैसलों में तरजीह हासिल है उन्हें खुद तक पहुंचने के रास्ते हमेशा खुले रखने चाहिए। यह चूक तो हम मैनेजमेंट और सोसाइटी वालों की थी।

नया स्कूल और नए मुद्दे

वैसे तो मुद्दे नए नहीं थे। टीचर और बिरादरी ने हमें आगाह करने की कोशिश तो की थी। हम जब उनके चश्मे और तजुरबों के आईने से चीज़ों को देखना ही नहीं चाहते या फिर वाक़ई उन्हें और उनके तजुरबों को ऐहमियत ही नहीं देते तो क्या करें। जैसा कि मैंने पहले लिखा है कि स्कूल से बेपनाह लगाव में भी अलगाव की बू है। शायद बिरादरी वालों को यह महसूस होता है कि और इदारों के दरवाज़े उनके बच्चों के लिए खुले नहीं हैं। ऊपर से घेटो में स्थित इस स्कूल में भेजने पर एक तह़फ़ुज़ का एहसास तो होता ही है।

लोगों को अपने बच्चों को उस नए इलाक़े में भेजने पर ऐतराज़ था। उनके हिसाब से, ''अरे मैडम आपने बच्चे-बच्चियों को यहां कहां डलवा दिया। आसपास हिन्दुओं का, दलितों और खटीकों का इलाका है। कब क्या लड़ाई- दंगे हो जाएं, वक़्त का कुछ पता नहीं है।'' या फिर, ''सर्दियों में तो स्कूल की छुट्टी होते-होते रात हो जाती है, जवान बच्चियां ऐसे इलाक़े से निकलकर घर जाती हैं ठीक नहीं है''। एक दिन मैं इसी स्कूल के स्टाफ़ रूम में बैठी थी, एक चौथी जमात् का बच्चा वाइस प्रिंसिपल से घर जल्दी जाने की इजाज़त लेने आया। उन्होंने पूछा, ''इतनी दूर घर अकेले पहुंच जाओगे?'' बोला, ''जी मैम, मैं मुसलमानों के मौहल्ले से होता हुआ जाऊंगा''। बच्चों को घर और स्कूल से निर्देश दिए गए थे कि समूह बनाकर, बच्चियों को साथ लेकर जहां तक हो सके मुसलमानों के मौहल्लों से ही होते हुए जाएं। एक दिन एक हैरान परेशान टीचर ने ख़बर दी। ''शाम में छुट्टी के बाद घर जाते वक़्त नज़र जो पास वाले मंदिर के अंदर गई तो देखा कि हमारे कई बच्चे अंदर खड़े मंदिर की घंटी बजा रहे हैं। कोई अगर देख लेता और ऐतराज़ करता तो, मैंने आवाज़ देकर बुलाया और वहीं दो-तीन चांटे लगाए।''

कुछ मौहल्लों से जहां से बच्चे आते थे, वहां से स्कूल ज़्यादा दूरी पर था। ऊपर से प्राइमरी के छोटे बच्चों को अकेले इस भीड़-भाड़ वाली जगह पहुंचना मुश्किल था। कुछ बच्चों के मां-बाप उन्हें पहुंचाने आते थे लेकिन सब मज़दूर पेशा लोगों के लिए नियमित रूप से टाइम निकालना भी मुश्किल था। क्योंकि स्कूल दूर था, छोटे बच्चे रिक्शे से भी आते थे। जिनके कई बच्चे स्कूल में पढ़ते थे उनके लिए 600 रुपये फ़ी बच्चे के हिसाब से डेढ़-दो हज़ार रुपये का ख़र्चा मुश्किल ही था। बड़े बच्चों में से जो मज़दूरी करते थे उनके लिए शाम की शिफ्ट में स्कूल पहुंचना ज़्यादा मुश्किल हो गया।

बिरादरी और अध्यापकों की पेशनगोई ठीक थी। काफ़ी बच्चों ने स्कूल छोड़ दिया। प्राइमरी स्कूल तो जैसे ख़ाली सा हो गया। तक़रीबन 350 बच्चों में से सिर्फ़ 65 बच्चे स्कूल आ रहे थे। वह अलग बात है कि सबने हमसे तबादलाई सर्टिफ़िकेट नहीं लिए तो उनका नाम भी रजिस्टर से नहीं काटा। कुछ बच्चियों और बड़े बच्चों ने भी स्कूल छोड़े, कुछ ने कहीं और दाख़िला लिया, कुछ ने वह भी नहीं किया। यह तमाम मिली-जुली वजह रहीं जिसकी वजह से स्कूल में बच्चों की तादाद बहुत कम हो गई।

अगर आज शहर को दखें तो मुसलमान किनारों पर घेटों में क़ैद नज़र आते हैं। कई हैसियतदार लोगों से ये पूछने पर कि वे इन तंग गलियों वाले गंदे इलाके में क्यों रहते हैं किसी साफ़-सुथरे नए इलाके में क्यों नहीं चले जाते? ये कहा गया, ''कहां जाएं यहां कम से कम जान, इज़्जत, आबरू तो बची हुई है। गुजरात कैसे भूल जाएं। उन्नीस सौ चौरासी में जब इन्होंने सरदारों को नहीं छोड़ा तो हमें क्या छोड़ेंगे।'' जबकि ऐसा नहीं है कि हिन्दू मुसलमानों में काम से जुड़े रिश्ते और आपसी ताल्लुक़ात न हों। यह सब अपनी जगह है लेकिन डर का एहसास बना हुआ है। दिल्ली शहर में हमारे स्कूल के इलाक़े के अलावा और कई घेटो हैं जैसेः जामिया नगर, सीलमपुर, कच्ची खजूरी वग़ैरा। डर का एहसास, साथ ही यह हावी एहसास कि सरकार और पुलिस-कोर्ट उनके नहीं हैं उन्हें यहां क़ैद होने पर मजबूर करता है। एक और वजह यह भी है कि उनकी संस्कृति को आम या सार्वजनिक इलाकों में इज़्ज़त भी हासिल नहीं है, बल्कि नीची निगाह से देखा जाता है। सार्वजनिक स्थानों पर जो संस्कृति झलकती है वह प्रभुत्वशाली दलों की है जो उन्हें हिम्मत बख़्शती है। अल्पसंख्यक दलों की संस्कृति का आम न होना उनसे हिम्मत छीनता है। स्कूल का इलाक़ा भी एक टापू नुमा घेटो है जहां लोग अपने इदारे को बचाने की लड़ाई लड़ रहे थे। इन लोगों के पास नेता नहीं हैं लेकिन नेतागिरी करने वालों से घिरे हैं जो इन्हें आसानी से मोहरा बना पाते हैं। बच्चों का स्कूल छोड़ना और वालदैन की फ़िक्र से पता चलता है कि यह डर एक हावी एहसास था। दूसरी तरफ़ शहर में ऐसे इलाक़े और स्कूल हैं जहां मुसलमान बच्चे न के बराबर हैं या नहीं हैं। कई बार ऐसे इदारों में पढ़कर बच्चे न एक-दूसरे को जान पाते हैं और मीडिया की बनाई गई तस्वीरों पर यक़ीन करते हैं। इनमें कई बार मुसलमानों को जंगली, अजीबोग़रीब और दहशतगर्द भी दिखाते हैं। आज क्या हम ऐसे वक़्त में हैं जहां हम साथ लेकिन अलग-अलग सी अपनी दुनिया में जी रहे हैं। सच्चर कमेटी रिपोर्ट बात करती है साझा जगहों की जहां लोग और बच्चे साथ आ सकें ताकि एक-दूसरे को समझ सकें। शायद अब वक़्त है कि ऐसी जगह बनाई जाएं या स्कूलों को ही ऐसा बनाया जाए कि नई नस्ल के बीच की दीवारें गिर सकें। क्या अब इस दिशा में सोचना और एक पॉलिसी के रूप में लागू करने का वक़्त आ गया है?

औहदे-रुत्बे और दूरियां-दरारें

मिली-जुली परेशानियां और सोसाइटी-मैनेजमेंट के बेरुख़ी के रवय्यै ने अध्यापकों को साथ खड़ा कर दिया था। क्योंकि बातचीत के दरवाज़े बन्द थे तो अफ़वाहों को ख़ूब जगह मिल रही थी। आपसी ऐतबार पर लगातार काम करना होता है, जिस पर मेरे अलावा, सोसाइटी के और मैम्बरान ने काम नहीं किया था। अध्यापकों को यह भी खूब अंदाज़ा था कि उन लोगों के सामने मेरी हैसियत डामाडोल ही है यानी फ़ैसले तो उन्हीं के चलने थे।

औहदे से जुड़ी ताक़त का फ़ायदा कई तरह से उठाया जा सकता है। लोगों को सहारा देकर, बात सुनकर-समझकर, मिले-जुले फ़ैसले लेकर। जब ऐसा नहीं होता है तो एक तरफ़ डराना-धमकाना दूसरी तरफ़ वापसी दबाव बनाना या मैनेजमेंट की ज़बान में कहें तो 'बग़ावत' करना ही विकल्प रह जाता है। जब 'हमारे' टीचर ही हमारे ख़िलाफ़ हो गए तो मैनेजमेंट का गुस्सा लाज़मी था। 'हमारे' कहने में आपको हमारी नाक और साख का अंदाज़ा अगर हुआ तो सही हुआ। जब हम मालिकगिरी दिखाएंगे तो साथी कहां पाएंगे। तब कर्मचारियों की मिली-भगत ही उन्हें ताक़त का रास्ता सुझाएगी। जब 'हुक्म' नहीं माना जाता तो हथियारों का इस्तेमाल होता है। जी, हथियार भी इस्तेमाल किए गए। जैसेः यह ऑर्डर निकाला गया कि गर्मी की छुट्टी में किसी को शहर से बाहर जाने की इजाज़त नहीं है। या फिर अध्यापकों की तनख़्वाह के बिल पर वक़्त से हस्ताक्षर नहीं किए गए जिस वजह से उन्हें तनख़्वाह लगातार दो महीने देरी से मिली। जिन परिवारों में कमाने वाला बस एक फ़र्द है, वहां क़ाफी दुश्वारी हुई। जिन लोगों ने बैंक से कर्ज़ा ले रखा था और

क़िस्त देते थे उन्हें भी काफ़ी परेशानी हुई। इसके अलावा एक साहब को जो प्रिंसिपल साहब के छुट्टी पर जाने की वजह से उनकी जगह स्कूल देख रहे थे मीमो दिया गया। बल्कि यह ख़त मेरी तरफ़ से ही जारी किया गया था। असल में असैम्बली के दौरान, उस दिन, बिरादरी के एक जनाब ने माइक पर मैनेजमेंट के लोगों को बुरा भला कहा था। उन्होंने इस हरकत को रोकने की ख़ास कोशिश नहीं की। साफ़ ज़ाहिर था हमारे ख़िलाफ़ हैं सो धमकाया गया। यानी लाइन पर लाने के सब पैंतरे अपनाए जा रहे थे। एक दिन हमारे एक सीनियर साथी ने मुझसे कहा भी था, ''करना यह चाहिए कि एक को घेर लो बाकी लोग खुद लाइन पर आ जाएंगे।'' प्रिंसिपल साहब को भी डांटा, फटकारा, डराया गया। उनकी हालत सबसे ख़राब थी। वो असातज़ा से अलग थे बल्कि मैनेजमेंट और स्टाफ़ के बीच की कड़ी थे भी और अपना रोल भी खुद कुछ ऐसा ही समझते थे। उन्हें मैनेजमेंट हुक्म पर हुक्म दे रहा था। स्टाफ़ उन्हें मैनेजमेंट का पिट्ठू समझ रहा था। यह भी पता था कि मैनेजमेंट के मुकाबले में वे कमजोर हैं। आपने उनके ख़त में देखा ही होगा कि अपनी बात कहने के लिए इल्ज़ाम फ़ुजूल में प्रिंसिपल साहब के सर धर दिया। मौहल्ले वालों ने तो बस मारने से ही छोड़ा, गाली-गलौज तो मामूली बात ठहरी।

ऐसा कमाल भी नहीं हुआ कि सभी टीचर हाथ पकड़े बराबरी से खड़े हों। जिन 'समझदारों' ने शिक्षा विभाग भेजी गई शिकायती चिट्ठी पर हस्ताक्षर नहीं किए उन्हें ग़द्दार समझा गया। उन्हें स्कीम में शामिल कम किया गया। एक टीचर ने मुझसे कहा भी, ''मैम, स्कूल में बिलकुल अच्छा नहीं लगता किसी तरह टाइम पूरा करते हैं और भागते हैं। अजीब ग्रुप बन गए हैं, हमें आता देखकर लोग फुसफुसाने लगते हैं, अगर बातें करते होते हैं तो चुप हो जाते हैं''। स्कूल में अजीब खिंचाव का माहौल था, आपसी रिश्ते तार-तार हो रहे थे।

आप पूछना चाहेंगे, इस दौरान मैं क्या कर रही थी? शुरू में काफ़ी कोशिश की कि मैनेजमेंट और स्कूल स्टाफ़ एक दूसरे का नज़रिया समझें। बिरादरी और स्टाफ़ के साथ सैक्रेटरी मैडम की बैठकें भी हुई, जो बहुत कामयाब नहीं रहीं। टीचर-बिरादरी स्कूल शिफ्ट करने के खिलाफ़ ही रहे जबकि मैनेजमेंट को बच्चों की हिफ़ाज़त और इमारत की तामीर होने का पहला क़दम यह ही नज़र आ रहा था। अगर साथ में मिलकर सोचते तो शायद शिक्षा विभाग पर पास का स्कूल देने के लिए दबाव बना सकते थे। बिरादरी की कुछ सुनते तो शायद प्राइमरी की कक्षाएं अपने ही स्कूल की मज़बूत बिल्डिंग में चला लेते। ग्यारहवी-बारहवीं तो वैसे भी यहीं चल रही थी। मिलकर सोचा ही नहीं।

मुझ पर भी शक-शुबह के दायरे थे। यह भी काबू करने के हथियार ही हैं। मेरे सीनियर साथियों को शक था कि मैं बिरादरी और टीचर हज़रात का साथ दे रही हूं। मैं यह ज़रूर कर रही थी कि उनका नज़रिया-ख़याल ऊपरी गद्दी तक पहुंचा दूं ताकि उस रौशनी में फ़ैसले हो सकें। किसी तरह की साज़िश नहीं थी। जब मुझ पर खुले आम व्यंग्य और ताने कसे गए तो लड़ बैठी। हां, इतनी हैसियत तो थी कि आमने-सामने लड़ सकूं। लेकिन फिर इस हैसियत को रौंदने का सिलसिला चला। हुक्म सोसाइटी से सीधा प्रिंसिपल साहब को शाया हो रहे थे। जब लगातार ऐसा हुआ तो मैंने छुट्टी ले ली। मुक़दमा चलता रहा। छुट्टी लेने से पहले जो मदद मैं स्टाफ़ की कर सकती थी वो मैंने की। जैसे तनख़्वाह के बिल पर दस्तख़त फ़ौरन किए और इस दरख़ास्त के साथ ऊपर भेजा कि असातज़ा को तनख़्वाह फौरन दे दी जाए जबकि दो महीने तो ऐसा नहीं किया गया। क्योंकि तनख़्वाह वक़्त पर नहीं मिल रही थी इसलिए कई टीचर ने और प्रिंसिपल साहब ने अपने जी.पी.एफ. अकाउंट से पैसे निकलवाने चाहे जिसकी इजाज़त मैंने फ़ौरन खुशी से दी। इस अकाउंट के चैक पर दस्तख़त करने का इख़्तियार मुझे था। एक टीचर मेरे पास आए, इस गुज़ारिश के साथ कि वे अपने घर बिहार जाना चाहते हैं क्योंकि उनके यहां वलादत होने वाली। उन्हें फ़ौरन इजाज़त दी और उनकी चिट्ठी पर लिख दिया कि मैं उन्हें खुशी से इजाज़त दे रही हूं और उसकी कॉपी उन्हें रखने के लिए दी। क्या करती सोसाइटी की तरफ़ से फ़ुज़ूल की पाबंदियां जो लगा दी गई थीं। स्कूल की छुट्टी जल्दी करने की इजाज़त भी दी ताकि सब रात होने से पहले अपने घर पहुंच जाएं।

यह कहना यहां जरूरी है कि सोसाइटी के पास पाबंदियों के जायज़ होने की दलीलें मौजूद थीं। जैसे टीचर हज़रात को दिल्ली से बाहर जाने की इज़ाजत इसलिए नहीं दी गई कि जब स्कूल जल्दी बन्द कर दिया गया था तो यह सोचा जा रहा था कि गर्मी की छुट्टी जल्दी ख़त्म कर दी जाएगी।

डराने और 95 फ़ीसदी की सरकारी मदद का एहसान रखने में शिक्षा विभाग भी कहां पीछे रहने वाला था। स्कूल की इमारत का मुआइना करने आए तो अध्यापकों को धमका गए। एक टीचर का मेरे पास फ़ोन आया, ''मैम ई.ओ. (Education Officer) मैडम कह रही थी हम बच्चों को अलग-अलग स्कूलों में बांट देंगे, जगह देने की क्या ज़रूरत है, स्कूल ख़त्म हो जाएगा।''

तंत्र की ग़ैर-बराबरियों, औहदों से जुड़ी सत्ता को बेलगाम छोड़ने का नज़ारा तो ऊपर मौजूद है। क्या स्कूली संगठन या आयोजन को लोकतांत्रिक बनाने का पहला क़दम लोकतंत्र को समझना और अपने यक़ीन का हिस्सा बनाना ही होगा? इसके बग़ैर औहदों की ज़िम्मेदारी में कब अनाप-शनाप सत्ता की मिलावट हो जाए कहना मुश्किल है। दबदबा, डराना-धमकाना, वापसी दबाव में सादिक़ जज़्बे भी कहीं खो से जाते हैं। यह भी सही है कि हम सब अपना-अपना फ़ायदा भी देखते हैं, यह फ़ितरी चीज़ है।

लेकिन बच्चों के हक़ में बेहतर फ़ैसलों में सबका दख़ल लाज़मी है। स्कूल तंत्र न तो मशीन है जिसमें हर हिस्से का एक रोल हो, न एक तयशुदा रास्ता है, बल्कि अलग-अलग लोगों-भागीदारों के लिए इसके मक़सद और मंज़िल भी अलग-अलग हैं। संगठन में सबका साथ लोकतंत्र ही की देन होता है। फ़ैसलों में दख़ल और सत्ता भी तोल के हिसाब से बंटी नहीं होती है। इसका जायज़ इस्तेमाल मिले-जुले फ़ैसलों से ही मुमकिन है। और इदारे को लोकतांत्रिक बनाने की पहल ज़्यादा ज़िम्मेदार कुर्सियों को करनी पड़ती है। जब अपने स्टाफ़ के साथ काम करना था तो मैंने अपनी जगह बनाने की कोशिश की। हर साल की तरह शिक्षक दिवस पर साथ में चाय पीते हुए, कुछ ने कहा, ''मैम, हम तो अनाथ हुए पड़े थे आप कहां थीं?'' कुछ ने मोहब्बत का इज़हार किया, कहा, ''मैम, हमें पता है आपने हमेशा हमारा भला चाहा है और हमारे साथ हैं।''

टीचर हज़रात की सोसाइटी से रंजिश का एहसास जब हुआ जब उन्होंने सोसाइटी की तरफ़ से भेजे गए चॉकलेट और कोल्ड ड्रिंक लेने से साफ़ इंकार कर दिया। इसी दौरान जब मैंने अपने अरबी के उस्ताद से उनके हाल दरयाफ़्त किए तो उन्होंने बाक़ायदा तरन्नुम के साथ यह कलाम सुना डाला। इशारा सोसाइटी की तरफ़ से भेजे गए नाश्ते की तरफ़ तो था ही लेकिन तीर मुझे भी लगे।

यह पाकिस्तानी शायर पीरज़ादा क़ासिम का कलाम है, जिस तरह हमारे सलाम साहब ने इसे पेश किया मैं उसी तरतीब से लिख रही हूं

ज़ख़्म दबे तो फिर नया तीर चला दिया करो
दोस्तो अपना लुत्फ़े ख़ास याद दिला दिया करो।

सादा दिलों से दूर क्या सारे आज़ाब भूल जाएं
करके उन्हें लहू लुहान प्यार जता दिया करो।

शहर करे तलब अगर, तुमसे इलाजे तीरगी
साहबे इख़्तियार हो आग लगा दिया करो।

प्यासी ज़मीन को तो एक जुर्रा-ए-ख़ून है बहुत
मेरा लहू निचोड़कर प्यास बुझा दिया करो।

जज़्बए ख़ाक परवरी और सुकून पाएगा
ख़ाक करो हमें तो फिर ख़ाक उड़ा दिया करो।

अब यह खूबसूरत शिकायत तो सर आंखों पर ही ली जाएगी। मैंने वापस आकर यह ग़ज़ल फ़ोन पर सोसाइटी की सरपरस्त को भी सुनाई। कुछ बोली नहीं बस हंसती रहीं।

नए उतार-चढ़ाव

अदालत की पेशियां तो चल ही रही थीं। इस बीच में हमारी सोसाइटी के नए चेयरमैन नियुक्त हो गए। जैसा कि मैं पहले लिख चुकी हूं जामिया मिलिया इस्लामिया के वाइस चांसलर (V.C.) सोसाइटी के सदर होते हैं। यह सिलसिला ज़ाकिर साहब के ज़माने से चला आ रहा है। अब सोसाइटी, स्कूल और बिरादरी में सियासी मामले तो उबाल पर थे ही, उन्होंने अपनी टीम यानी सोसाइटी के कुछ अहम् लोगों को बदल दिया। यह तो मैं यहां याद दिलाना चाहूंगी कि पुरानी टीम का जज़्बा सादिक़ था। सोसाइटी के साथियों की कोई ज़ाती मफ़ात या फ़ायदा इस तमाम सिलसिले से जुड़ा नहीं था। इमारत की हालत बोसीदा थी, बच्चों के तहफ़ुज़ की फ़िक्र भी थी। लेकिन सियासी दांवपेच में जज़्बे की सदाक़त कहीं खो गई।

जब अदालत में नई टीम पेश हुई जिसका रुख़ बदला हुआ था तो अदालत भी दूसरी करवट ही बैठी। नई टीम ने बिरादरी और अध्यापकों की बातों पर ज़्यादा ग़ौर किया और अदालत में यह ही हामी भरी कि बच्चों का अपने स्कूल में वापस आना ही बेहतर है तो फ़ैसला इसी के हक़ में हुआ।

फैसले में यह कहा गया कि नई इमारत बनाने का कोई इन्तेज़ाम सोसाइटी के पास फ़िलहाल नहीं है। साथ ही दिल्ली म्युनिसिपल कॉर्पोरेशन से स्कूल की मज़बूती के बारे में रिपोर्ट मांगी गई थी। इस रिपोर्ट के हिसाब से स्कूल कुछ जगहों से ख़तरनाक है जबकि कुछ जगहें इस क़ाबिल हैं कि उनकी मरम्मत हो सके। पुरानी रिपोर्टों को नज़र अन्दाज़ कर दिया गया था। स्कूल इन्तजामिया को यह निर्देश दिए गए कि स्कूल की मरम्मत करवा कर बच्चों को वापिस स्कूल लाया जाए। अब बच्चे वापिस स्कूल आ गए हैं। बिरादरी वालों ने स्कूल की मरम्मत में बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। हैसियतदार लोगों ने पैसे जोड़कर 20-21 कमरों की मरम्मत करवा दी। टीचर भी काफ़ी मुतमइन हैं।

स्कूल चल रहा है। इदारे चलते रहते हैं लोग आते-जाते रहते हैं। तकलीफ़ बस इस बात की है कि इदारों में किस काम को एहमियत दी जाए या फिर नहीं दी जाए, यह ऊपर बैठे अफ़सरों से तय होता है। नई टीम बहुत से नए काम कर रही है लेकिन एक साल की कशमाकश ने बहुत से पुराने कामों को पीछे धकेल दिया है। अब न तो हाउस सिस्टम है, न बच्चों की काउंसिल, न जलसे और इसी तरह की बहुत सी चीजें। अपनी सुस्त चाल से सब चल सा रहा है। शायद जल्दी ही जब अफ़सरों की तवज्जह इस तरफ़ जाएगी तो चीज़ें फिर संभलेंगी, बदलेंगी। नई टीम के आने के बाद मैंने मैनेजर के पद से इस्तीफ़ा दे दिया, जबकि हमारे चेयरमैन ने मुझसे काम जारी रखने के लिए कहा था। कुछ तो थक गई थी, कुछ अपनी जिम्मेदारियों को सही से न निभा पाने का एहसास था।

ख़ैर, इदारा तो अपना काम कर ही रहा है। जब कभी मौक़ा होगा तो मैं फिर जुडूंगी। मैं लोगों से मिलती हूं तो कहती जरूर हूं ''मेरा स्कूल से रिश्ता किसी औहदे का मोहताज नहीं है'' लेकिन आप भी जानते हैं और मुझे भी पता है कि औहदा हमें काम करने का रास्ता तो दिखाता ही है। दिल में एक ख़ालीपन घर कर गया है। ◆

लेखिका परिचयः दिल्ली विश्वविद्यालय के लेडी श्रीराम कॉलेज में बीएलएड कोर्स से जुड़ी रही हैं। आजकल जामिया मिलिया इस्लामिया के शिक्षा विभाग में प्रोफेसर हैं।

बाल-साहित्य समीक्षा

बच्चों के गुलजार

पल्लव

यह अचरज भरी बात है कि हिन्दी में बच्चों के लिए मुख्यधारा के कुछ ही लेखक लिखना आवश्यक मानते हैं, वहीं हिन्दी से इतर दुनिया के अनेक बड़े लोगों ने इसे जरूरी समझा है। भारत के राष्ट्रपति रहे जाकिर हुसैन और मशहूर फिल्मकार गुलजार ऐसे उदाहरण हैं। गुलजार ने अपनी बिटिया बोसकी (जो अब स्वयं एक समर्थ फिल्मकार के रूप में प्रशंसित हैं) के हर जन्मदिन पर एक किताब का उपहार दिया था। यह उपहार ऐसा था जिसमें गुलजार खुद एक नई किताब लिखते और छपवाकर बिटिया को देते। बिटिया बड़ी हो गई और अपनी राह बनाई लेकिन ये किताबें आज भी हजारों बच्चों को आनन्द देने में समर्थ हैं, उनके काम की हैं। सोचिए तो कैसा अनोखा उपहार है जो सालों बाद भी बना हुआ है और उस उपहार का आनन्द गुलजार की बिटिया के साथ और कितने बच्चे ले सकते हैं।

पहली किताब है-'बोसकी', जो बोसकी के पहले जन्मदिन पर आई थी। तब बोसकी तुतलाकर बोलती होगी या न भी बोलती हो तो उससे तुतलाहट सुनना गुलजार को भाता हो। यही कारण है कि यह किताब ठेठ बोसकी की बोली में है। जैसे- 'छब पूछते थे आपका नाम क्या है, तो मां मेघना-मेघना बोल देती थीं। बछ वही नाम लख दिया। लेकिन आप ऐछे लेछम जैछे मुलायम-मुलायम लगते थे कि हम तो बोछकी बुलाने लग गए। बोछकी एक बहुत ही मछहूल लेशमी कपले का नाम है। मालूम?' फिर यही नहीं आखिर बोसकी क्यों विशिष्ट है? क्यों हर संतति अपने पिता या मां के लिए विशिष्ट है? इसका उत्तर भी इस किताब में देखिए- 'आपको मालूम है, दुनिया में लॉज कितने बच्चे पैदा होते हैं? हल मिनट में एक बच्चा पैदा होता है। शौ छालों शे हो रहा है, लेकिन तेलह दिछम्बल उन्नीश छौ तिहत्तल का वह एक मिनट, एक छैकंड हमाला था। जब हमाला बच्चा पैदा हुआ। हमाली बोछकी पैदा हुई। जो इछ शे पहले करोलों शालों छे इनछान के इतिहाछ में नहीं हुआ था। इनछान थे, दुनिया थी, इतिहाछ था, लेकिन बोछकी नहीं थी, हमाली बोछकी!'

इस तुतलाहट भरी भाषा में गुलजार ने कैसे नए शब्द बनाए हैं। एक सज्जन जो बोसकी के चाचा भी हैं, मामा भी हैं तो उन्हें क्या कहा जाए? गुलजार बताते हैं- चामा। इस किताब में पांच कविताएं और पहेलियों का एक पन्ना भी है। 'मॉडेल' कविता की पंक्तियां हैं-

'बिट्टू रानी बोसकी, बूंद गिरी है ओस की/अभी अभी तो हुई थी यह, पोली-सी बस रुई थी यह
और अब देखो ऐसी सयानी, लगती है राखी की नानी / बाहर रोब जतलाता हूं, सामने आऊं तुतलाता हूं'

बताइए क्या यह सिर्फ बोसकी और गुलजार की कहानी है?

दूसरी किताब गिनती की है। बोसकी ने गिनती सीखी। लेकिन कैसे? ऐसे की गिनती के हर अक्षर पर एक कविता। यह अनूठा विचार है और इस पर अनेक लोगों ने काम किया है लेकिन इस गिनती की बात खास है

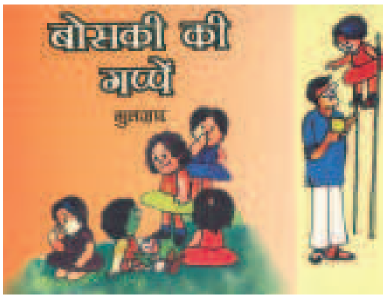

क्योंकि यहां गिनती के बहाने गुलजार हिन्दुस्तान की रवायतें बिटिया को बता रहे हैं। उसे जैसे पूरा भारत दिखा रहे हैं- समझना या न समझना और फिर मानना या न मानना बोसकी के हिस्से।

बच्चे अच्छे सच्चे नेक/बोसकी ने कहना सीखा एक/दूर को 'उस' और पास को 'इस'
बोसकी लिखती है चौंतीस/ईसाई थे सेंट फ्रांसिस/बोसकी लिखती है सैंतीस
Eiffel Tower is in Paris/बोसकी लिखती है उनतालीस/अंकल मेराज और इदरीस
बोस्की सीखी छयालीस/बारिश लेकर आया सावन/बोसकी बोलती है इक्यावन
बड़ा बुढ़ापा छोटा बचपन/बोसकी बोलती है अब पचपन/कैसी कैसी बातें? अंग्रेजी से भी परहेज नहीं।

तीसरी किताब है 'बोसकी की गप्पें', बच्चों में बात बनाने की अद्भुत कला होती है चाहे मुख पर माखन लिपटा हो तब भी बच्चा ही कह सकता है 'मैं नहि माखन खायो', तो बोसकी कैसे न गप्पें मारे भला? अब बोसकी थोड़ी बड़ी हो गई है इसलिए वह खुद यहां अपने दोस्तों को गप्पें सुना रही है। बोसकी चाहती है कि बाबूजी कोई मॉडर्न कहानी लिखें लेकिन बंटी भी है दोस्तों में जो सच कह सकता है- 'माफ करना बोसकी, तुम्हारे बाबूजी लिखते तो अच्छा हैं लेकिन दिल के चक्कर में रहते हैं- सीधे सब्जेक्ट पर नहीं आते। बात की कविता बना देते हैं।' अब गप्पों पर आएं तो यहां कुछ कहानियां हैं और कुछ कविताएं। यह हो ही सकता है कि मुर्गी बार-बार प्लेट में मुंह मारे और बोसकी के पापा परेशान होकर आम की गुठली दे मारें। गुठली पीठ पर चिपकी रह जाए। अगले दिन बरसात हो और मुर्गी की पीठ पर पेड़ उग जाए। बच्चे आम खाने जब ढेले मारें तो इतनी मिट्टी मुर्गी की पीठ पर जमा हो जाए कि मैदान बन जाए। तो ऐसा ही है बोसकी का संसार। इसमें कविताएं न हों यह कैसे हो सकता है?

चींटी चली स्पेस में हाथ में रॉकेट थाम/गुठली फेंके मार्स पर और चांद पे चूसे आम

बोसकी धीरे-धीरे बड़ी हो रही है तो नए-नए शौक भी होंगे। तो बोसकी ने कौआ पाला और किताब बनी पापा की- 'बोसकी का कौआनामा' बोसकी को एक घायल कौआ मिला और फिर वह बोसकी का साथी हो गया। तो इस कौए के बहाने रोज कोई न कोई कहानी सुनानी होती थी जो कौओं की हो। घड़े में पानी वाली कहानी सुनकर बोसकी ने जो किया वह ध्यान देने योग्य है- छत पर आधा भरा मटका रखा और पास में छोटे-छोटे पत्थर। आगे और कई कहानियां सुनी गईं और कौए का नामकरण भी हुआ। आखिर एक दिन कौए महाराज उफुक की तरफ उड़ गए। छत पर आधा भरा मटका पड़ा है। कुछ कंकर भी। गुलजार ने लिखा है- 'जब कभी बोसकी टोस्ट खाती है तो अकबर का हिस्सा छत पर छोड़ आती है। कहती है, 'अकबर किसी दिन आएगा जरूर बाबूजी... जब आएगा न...' यह कहते-कहते उसकी आवाज रुंध जाती है, आंखें भर आती हैं।

अगले जन्मदिन पर यह समस्या आई कि गिनती हुई, गप्पें हुईं, कौए हुए अब आगे क्या? जीवन अनंत है तो साहित्य के विषय भी थोड़े कैसे हो सकते हैं? अगले जन्मदिन पर पापा गुलजार ने किताब लिखी 'बोसकी के ब्राह्मण', और इसमें पांच बिरहमनों की कथाएं लिखीं। उर्दू में ब्राह्मण बिरहमन हुए- 'एक बिरहमन ने कहा है कि ये साल अच्छा है।' यहां कुंए से निकालकर कुछ जानवरों की जान बचाने वाली कथा, सत्तू की हांडी पर लात चलाने वाले सोम शर्मा के पिता की कथा, चुहिया को बेटी बनाने वाले ब्राह्मण की कथा, नेवले वाली कथा और ज्ञानी ब्राह्मणों द्वारा बिखरी हड्डियों को जीवित शेर बनाने की कथाएं हैं। कथाएं पुरानी हैं लेकिन कहने-सुनाने का अंदाज नया है। फिर इनमें जहां तहां गीतात्मकता है, जो बच्चों को भाती है। आखिरी कथा की आखिरी पंक्तियां हैं-

ताकत जिसका तोड़ न हो/शक्ति जो अपनी शक्ति से ज्यादा हो/ऐटमबम हो या हो शेर
जब भी वो ईजाद करोगे, नाश करेगी।/ज्ञान की शक्ति मानता हूं/शक्ति का ज्ञान जरूरी है।

क्या ये शक्ति का ज्ञान करवाने का उपक्रम है? शायद नहीं। गुलजार सीख देने में विश्वास नहीं रखते। घटनाओं और कथ्य का रोचक प्रस्तुतीकरण ही उनके लिए पर्याप्त है। बोसकी खुद भी सबक मजे में लेती है- 'बोसकी ने सबक निकाला कि पेड़ पे बैठके टोस्ट नहीं खाना चाहिए और यह कि लोमड़ी बहुत चालाक जानवर है।'

ब्राह्मणों की कथाएं पूरी हुई। अब आई धनवानों की बारी। किताब बनी- 'बोसकी के धनवान', जिसमें चार कथाएं हैं। धन की कामना और उसके लिए की जाने वाली कोशिशों की कथाएं। ये कोशिशें भली हैं, बुरी हैं लेकिन गुलजार नसीहत

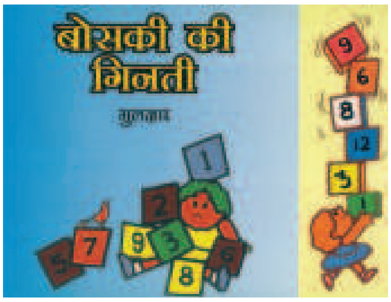

के फेर में नहीं पड़ते। आखिरी कहानी का निष्कर्ष ही है- 'कहा अपना अच्छा-बुरा आप समझो नसीहत सुनो सबकी अपनी करो।' धन के लालच में माथे पर शनि चक्र लेकर भटकने वाले आदमी की कथा इसमें है तो जैसे को तैसा करने वाली कथाएं भी। नकल में भी अकल की जरूरत क्यों और कैसे होती है यह तीसरे धनवान की कथा बताती है जो एक साधु के सर पर डंडा मारकर धनवान हो गया था।

'बोसकी की सुनाली' एक हैंस क्रिश्चियन एंडरशन की कहानी सुनाली का ऐसा पुनः प्रस्तुतीकरण है जिसमें कहानी किसी एक देश, भाषा या भूगोल तक सीमित नहीं रह जाती। बोसकी नौ साल की हो गई है और यह नौवीं किताब उल्लास की नहीं अवसाद की है। सुनाली भयानक ठण्ड में रजाई, खिलौने और खाने की आशा में एक बर्फ ओढ़े शहर में सदा के लिए सो जाती है। इस किताब की भूमिका में गुलजार ने लिखा है- 'सिर्फ परियां और पंछी ही नहीं, कहानियां भी उड़ती हैं- उनके भी पर लगे होते हैं। खासतौर पर कहानियां, जो मासूम फरिश्तों की तरह देश-देश में जाती हैं और एक देश के बच्चों को दूसरे देश के बच्चों से मिलाती हैं, उनके संदेश पहुंचाती हैं, दोस्तियां कराती हैं। जिन देशों में हम रहते हैं, वे तो घरों की तरह हैं और दुनिया एक बहुत बड़ा देश है जिसे हम जमीन कहते हैं।'

बोसकी अगर बड़ी हो रही है तो उसे उपन्यास भी चाहिए। गुलजार ने लिखा- 'बोसकी के कप्तान चाचा', देश के झंडे के लिए लड़ने-भिड़ने वाले कप्तान चाचा की कहानी। इस उपन्यास में बम्बई (अब मुंबई) की एक चाल में रहने वाले लोगों और उनके साथ रह रहे मिलिट्री से रिटायर्ड एक कप्तान की है जो भारत चीन युद्ध में एक पैर पर गोली खा चुके हैं। 26 जनवरी आने को है और चाचा चाहते हैं कि चाल में सामूहिक रूप से झंडा फहराया जाए। घर-घर भी फहरे। इस काम में बच्चों की पूरी सेना शामिल है। लेकिन एक विवाद होता है और पुलिस थाने में चाचा बंद हो जाते हैं। आखिर चाचा आते हैं और झंडा फहराया जाता है। लड्डू खाए जाते हैं। छोटा-सा यह उपन्यास जाने कितने चरित्रों से मिलवाता है तो बच्चों के उत्साह का बयान भी करने में समर्थ हुआ है। 'बोसकी के ताल-पाताल' भी एक औपन्यासिक कहानी है लोक कथा पर आधारित। नागों की कहानी। एक नाग और नागिन के प्रेम और उनके मिलन-विरह की कहानी। 'बोसकी का पंचतंत्र' सबसे बड़ी और पंचतंत्र की कहानियों वाली किताब है जिसमें से अधिकांश कहानियां पिछली पुस्तिकाओं में आई हैं। यह समग्र जैसा है इसलिए है- बोसकी का पंचतंत्र।

इन किताबों से गुजरो तो मालूम होता है गुलजार बच्चों से संवाद किस तरह करते हैं और इस संवाद का कुल हासिल कितना बड़ा है। यह जो बड़ा है वह असल में बच्चों से संवाद करना है, उनके भीतर प्रश्नाकुलता उत्पन्न करना है। उन्हें अपना व्यक्तित्व खुद बनाने के लिए प्रेरित करना है। जाहिर है इनमें अधिकांश वह है जो मूल लेखन नहीं है बल्कि लोककथाओं का पुनर्सृजन है। गुलजार ने लिखा था- 'हमारी दादी ये कहानियां सुनाया करती थीं- मिर्च-मसाले लगाकर। मैंने सिर्फ इतना किया है, कुछ और नमक-मिर्च लगाकर आपके लिए किताब के इस फ्रिज में रख दी है। आप माशाअल्लाह दादी बनेंगी तो निकाल-निकाल के अपने पोते-पोतियों को पेश करना लेकिन ऐसी की ऐसी नहीं, मैंने अपने वक्त का नमक लगाया है, आप अपने वक्त का लगाना।' एक दूसरी किताब में गुलजार ने बोसकी को लिखा है- 'और हम लिखेंगे नहीं तो आप पढ़ेंगे कहां से?' तो कोई है जो जिम्मेदारी समझता है। इन किताबों में खूब बातें हैं, गप्पें हैं और किस्से हैं जिन्हें गुलजार साहब कभी कविता जैसा बना देते हैं तो गप्प को गप्प जैसा भी रहने देते हैं। कहीं कहानी कहने का नया अंदाज है तो कहीं बात बात में बात। इरादा यह कि पढ़ने या सुनने वाले को आनन्द मिले। सीख मिले तो भला न मिले तो यह भी सीख ही हुई।

इन सब किताबों को हिन्दी के प्रसिद्ध राधाकृष्ण प्रकाशन ने छापा है और सुन्दर साज-सज्जा के साथ, तब भी कहने का मन है कि ये और बेहतर बन सकती थीं। प्रूफ की एक गलती ऐसी है जो बहुत खटकती है किताब के शीर्षक में कहीं बोसकी है तो कहीं बोस्की। लेकिन हम इन किताबों को उनके प्रस्तुतीकरण के लिए नहीं उनके पाठ के लिए याद रखेंगे और इनमें आई छोटी-छोटी बातें कैसे भूलें, जैसे- 'सयाने लोग बड़ी मुश्किल से मोह में पड़ते हैं।' ◆

लेखक परिचयः लगभग एक दशक से हिन्दी साहित्य का अध्यापन, हिन्दी की लघु पत्रिका 'बनास जन' के संपादक। संप्रतिः हिन्दू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय में साहित्य के प्राध्यापक हैं।

शोषण को वैधानिकताः एक उदाहरण*

बीरेन्द्र सिंह रावत, फिरोज़ अहमद एवं मनोज चाहिल

विधेयक संबंधी तथ्य

4 दिसंबर, 2015 को दिल्ली की विधानसभा ने शिक्षा संबंधी तीन विधेयक पारित किए। इन विधेयकों का उद्देश्य दिल्ली विद्यालय शिक्षा अधिनियम, 1973 (आगे से अधिनियम 1973 कहा जाएगा) तथा शिक्षा अधिकार अधिनियम, 2009 में संशोधन करना है। इनमें से विधेयक संख्या 10 दिल्ली विद्यालय शिक्षा अधिनियम, 1973 में संशोधन करने से संबंधित है। इस आलेख में हम विधेयक संख्या 10 संबंधी तथ्यों, संदर्भ तथा इसके संभावित असर का विश्लेषण प्रस्तुत कर रहे हैं।

इस विधेयक के जरिए अधिनियम 1973 के एकाधिक खण्डों को संशोधित किया जा रहा है। खण्ड 10 के उपखण्ड (1) का संशोधित रूप कहता है, ''निजी मान्यता प्राप्त विद्यालय के कर्मचारियों को संदेय वेतन और भत्ते तथा उसके सेवा के निबंधन और शर्तें वे होंगी जो विहित की जाएं।'' अधिनियम 1973 के अनुसार निजी विद्यालय के कर्मचारियों का वेतन तथा अन्य सभी लाभों सहित भत्ते सरकारी विद्यालय के कर्मचारियों से कम नहीं होंगे। इतना ही नहीं, अधिनियम 1973 का यह खण्ड यह भी कहता है कि जिन निजी विद्यालयों के कर्मचारियों को सरकारी विद्यालयों के समकक्ष कर्मचारियों की तुलना में वेतन और अन्य लाभ कम मिल रहे हैं, सरकार उन विद्यालयों की प्रबंध समिति को लिखित रूप में यह कहेगी कि वे अपने कर्मचारियों को समान स्तर का वेतन और अन्य लाभ दें। अधिनियम 1973 आदेश का पालन नहीं करने पर प्रबंधन के खिलाफ कार्रवाई की बात भी करता है। इसके खण्ड 24 के उपखण्ड 4 में दी गई मान्यता संबंधी शर्तों में से एक यह है कि मान्यता चाहने वाले स्कूलों की वित्तीय क्षमता ऐसी होनी चाहिए कि वे अपने कर्मचारियों को सरकारी स्कूल के कर्मचारियों के बराबर वेतन और अन्य लाभ दे सकें। अधिनियम 1973 के खण्ड 24 के उपखण्ड 4 में अपने कर्मचारियों को सरकारी स्कूल के कर्मचारियों के बराबर का वेतन और अन्य लाभ न दे सकने वाले स्कूलों की मान्यता रद्द करने का प्रावधान है। लेकिन संशोधित रूप में इस प्रावधान को अंत में रखा गया है। अब कर्मचारियों को वेतन आदि का न्यायोचित भुगतान न करने वाले स्कूलों के कर्मचारियों को राज्य से किसी प्रकार का संरक्षण नहीं मिलने वाला और उन्हें स्कूल मालिकों के रहमोकरम पर छोड़ दिया गया है। अर्थात् राज्य अपनी संवैधानिक और नैतिक जिम्मेदारी से मुक्त होकर निजी स्कूल मालिकों के हक में स्कूल के कर्मचारियों के अधिकारों की बलि दे रहा है।

इस विधेयक में दिए गए 'लक्ष्यों और कारणों का विवरण' में कहा गया है, ''...अधिनियम 1973 में सिर्फ दो दंडात्मक प्रावधान उपलब्ध हैं जो कि विद्यालय की मान्यता रद्द करना तथा विद्यालय के प्रबंधन को सरकारी नियत्रंण में लेना है। ये दोनों अत्यधिक कठोर कदम हैं जो प्रभावी दंडात्मक कार्यवाही को बाधित करते हैं। ...प्रस्ताव किया जाता है कि ...अधिनियम 1973 में कुछ ...प्रावधान शामिल किए जाएं, ताकि इसे

अधिक प्रभावकारी बनाया जा सके।'' अधिनियम 1973 की तुलना में जिन प्रावधानों को 'अधिक प्रभावकारी' बताया जा रहा है उनमें लिखित चेतावनी तथा आर्थिक दंड लगाना शामिल है। अधिनियम 1973 के खण्ड 10 के उपखण्ड (1) में किए जा रहे बदलावों को शिक्षा अधिकार अधिनियम, 2009 के 'अनुरूप' बताया जा रहा है।

यदि हम शिक्षा अधिकार अधिनियम, 2009 के खण्ड 23 के उपखण्ड (3) के साथ अधिनियम 1973 के खण्ड 10 के उपखण्ड (1) में किए जा रहे बदलावों का मिलान करें तो हमें पता चलेगा कि दिल्ली सरकार ने 'शिक्षकों' के बदले 'कर्मचारी' शब्द का इस्तेमाल करके उसमें 'मान्यता प्राप्त निजी स्कूलों' जोड़ दिया है। वास्तव में दिल्ली सरकार ने शिक्षा अधिकार अधिनियम, 2009 की मंशा को समझकर फिलहाल उसे सिर्फ निजी स्कूलों के कर्मचारियों पर लागू करने हेतु यह संशोधन पारित किया है। स्कूल के कर्मचारियों के पक्ष में उनके वेतन तथा अन्य भत्तों को लेकर जैसी स्पष्टता अधिनियम 1973 में है वैसी न तो शिक्षा अधिकार अधिनियम, 2009 में है और न ही दिल्ली सरकार द्वारा पारित विधेयक संख्या 10 में है।

संशोधन का संदर्भ

किसी भी अन्य कानून की तरह इस संशोधन को समझने के लिए भी हमें इसे उन अन्य वृहत् बदलावों व प्रक्रियाओं के परिप्रेक्ष्य में देखना होगा जिसके इर्द-गिर्द इसे रचा जा रहा है। फिलवक्त हम राजनैतिक समझ की कम-से-कम तीन ऐसी कड़ियां पहचान सकते हैं जो इस संशोधन में निहित हैं और इसे दिशा दे रही हैं। भले ही हम यहां इन कड़ियों के उदाहरण मुख्यतः राज्य सरकार के संदर्भ में प्रस्तुत करें लेकिन हमारा मानना है कि ये कड़ियां दिल्ली सरकार या उसके सत्तारूढ़ दल तक सीमित नहीं हैं और पिछले दो-ढाई दशक से राज्य के चरित्र को निरंतर निर्देशित कर रही हैं।

पहली कड़ी हमें शिक्षामंत्री व मुख्यमंत्री के उन अखबारी बयानों में मिलती है जिनमें उन्होंने यह स्पष्ट घोषणा की कि उनकी सरकार शिक्षा में निजीकरण के खिलाफ नहीं है। निजी स्कूलों के प्रबंधकों के विरोध पर प्रतिक्रिया करते हुए शिक्षामंत्री ने आश्वस्त किया कि सरकार न सिर्फ निजीकरण के विरुद्ध नहीं है बल्कि उसे निजी स्कूलों से कोई शिकायत भी नहीं है (द हिन्दू, नवम्बर 21, 2015)। इसी तर्ज पर स्वयं मुख्यमंत्री ने कहा कि वे नहीं चाहते कि ये स्कूल बंद हों। इस हेतु ही निजी स्कूलों में शिक्षकों को कुशल कामगारों के न्यूनतम दैनिक भत्ते के समान वेतन दिलाने का कानून लाया जा रहा है। सार्वजनिक शिक्षा को मजबूत करने का दावा करना और दूसरी तरफ निजी स्कूलों के प्रबंधन, मालिकों के पक्ष में कानून बनाना सरकार की कथनी व करनी के बीच में एक विरोधाभास दिखाता है। इस कड़ी को हम सरकारों द्वारा सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था के प्रति अपनी जिम्मेदारी से पलटकर इसे निजी सेवाक्षेत्र में बदलने के आग्रह के रूप में चिह्नित कर सकते हैं।

संदर्भ की दूसरी कड़ी श्रम कानूनों में मजदूरों के हितों के विरुद्ध किए जा रहे बदलावों के रूप में देखी जा सकती है। पिछले दिनों गुजरात सरकार के श्रम कानूनों संबंधी जिस विधेयक को राष्ट्रपति द्वारा मंजूरी दी गई उसमें मजदूरों व प्रबंधन के बीच विवादों को अदालत के बाहर निपटाने का प्रावधान है। गुजरात श्रम व रोजगार मंत्री ने इसके पक्ष में यह कहते हुए दलील दी कि इससे 'अनावश्यक' मुकदमों में कमी आएगी (द हिन्दू, दिसम्बर 02, 2015)। मजदूरों के हितों की सुरक्षा के लिए बनाए गए कानूनों को अनावश्यक बताना इस कड़ी के एक और आग्रह को बयान करता है। रोजगार को असंगठित व अनियमित क्षेत्र की तरफ धकेलने का एक और संदेश देते हुए राज्य सरकार ने स्कूलों के प्रधानाचार्यों को गैर-शैक्षणिक कार्यों के लिए अनियमित आधार पर कर्मचारियों की नियुक्तियां करने का अधिकार देने की घोषणा की है (दैनिक जागरण, दिसम्बर 05, 2015)। इसके लिए सेवानिवृत्त कर्मचारियों को ठेके पर नियुक्त करने की योजना भी बनाई गई है। ऐसा करके सरकार ने साफ कर दिया है कि अब सिद्धान्तः सार्वजनिक क्षेत्र को 'सुधारने' की कवायद ठेके पर अस्थायी नियुक्तियों के हवाले से ही होगी। इस कड़ी को हम श्रम कानूनों में मजदूर हितों के खिलाफ हो रहे संशोधनों के रूप में देख सकते हैं।

तीसरी कड़ी उस आग्रह में प्रकट होती है जो उपर्युक्त दोनों कड़ियों को दार्शनिक-मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान करता है। यह वह सिद्धान्त है जिसके अनुसार सामाजिक परिघटना व राजनैतिक समस्या को निजी कमजोरी या खूबी के

आधार पर परिभाषित करके विषमता तथा सत्ता के बुनियादी सवालों को दबा दिया जाता है। इसका एक उदाहरण दिल्ली के शिक्षा निदेशालय के 15 जून, 2015 के उस सर्कुलर में प्रकट होता है जिसमें प्रधानाचार्यों को निर्देशित किया गया कि वे अभिभावकों को यह समझाएं कि 9वीं कक्षा के नतीजों में आई गिरावट की वजह 'विद्यार्थियों का मेहनत नहीं करना है'। यह सर्कुलर ढांचागत समस्याओं और विषमताओं पर पर्दा डाल देता है। इसी तरह शिक्षा निदेशालय का 13 अप्रैल, 2015 का एक अन्य सर्कुलर नैतिक मूल्यों के विकास के लिए शिक्षकों को विपसना अपनाने और उसकी कार्यशाला में भाग लेने के लिए आमंत्रित करके 'नैतिकता' को मात्र एक व्यक्तिपरक मसले तक सीमित कर देता है। राज्य सरकार ने जिन स्वयंसेवी संगठनों को सार्वजनिक स्कूलों की बेहतरी के नाम पर अपने स्कूलों में दखल देने की सुनियोजित भूमिका प्रदान की है, वे भी बच्चों के 'कम' सीखने को मात्र शिक्षकों के कार्य से जुड़ी एक नितांत अनैतिहासिक समस्या के रूप में उठाते हैं और इस संदर्भ में राज्य की नीति व सामाजिक-राजनैतिक ढांचे की कोई बात नहीं करते। इन संस्थाओं के बौद्धिक व आर्थिक तार इस आग्रह से जुड़ते हैं कि राज्य को स्कूलों को नहीं बल्कि निजी उपभोक्ताओं के रूप में बच्चों/अभिभावकों को फंड करना चाहिए जिससे कि वे अपनी च्वॉयस (पसंद) के निजी स्कूलों में प्रवेश ले सकें। सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था के विचार से इतना साफ विरोध रखने वाली संस्थाओं की 'सहायता' से सार्वजनिक तंत्र को कथित तौर पर मजबूत करने का दावा करना इसी कड़ी का एक हिस्सा है।

'पीड़ित को ही दोष देने' की नव-उदारवादी नीति के पक्ष में डटने का चिंताजनक उदाहरण दिल्ली सरकार द्वारा प्रकाशित विज्ञापन (द हिन्दू, 25 नव., 2015, पृ. 20) के इस उद्धरण में भी मिलता है जिसमें शिक्षामंत्री नागरिकों को संबोधित करते हुए कहते हैं, *''दिल्ली में कई तरह के स्कूल हैं जो समाज के अलग-अलग तबके के बच्चों को पढ़ाते हैं। ...कुछ स्कूल 500 रुपये महीने से भी कम फीस लेते हैं वहीं दूसरी ओर कुछ अन्य स्कूल 10,000 रुपये महीने तक की फीस भी लेते हैं। जाहिर बात है कि यह स्कूल अपने टीचर्स को एक जितनी तनख्वाह नहीं दे सकते।''*

विज्ञापन से यह स्वतःसिद्ध है कि दिल्ली सरकार गैर-बराबरी में विश्वास करती है और उसके द्वारा किया गया संशोधन उसके इसी विश्वास का नियमीकरण है। सरकार के विज्ञापन के उपर्युक्त अंश से स्पष्ट है कि सरकार को समाज में व्याप्त बच्चों की जातीय, वर्गीय, लैंगिक असमानता के अनुसार चलाई जा रही बहुपरती स्कूली व्यवस्था से कोई ऐतराज नहीं है। विज्ञापन के इस अंश से यह भी साफ है कि सरकार मानती है कि शिक्षा में ऐसा कुछ भी नहीं है जिसके कारण इसे सार्वजनिक हित का सरोकार माना जाए। अपने विज्ञापन में सरकार यह भी मान रही है कि निजी स्कूल शिक्षकों और शिक्षिकाओं का शोषण करते हैं। सरकार का कहना है कि उनको 'शोषण से बचाने' के लिए वह इतना ही कर सकती है कि निजी स्कूलों द्वारा शिक्षकों और शिक्षिकाओं के शोषण करने को ही वैधता प्रदान कर दी जाए। और वह ऐसा ही करने जा रही है! विज्ञापन के अनुसार, *''...मजबूरन यह स्कूल अभी तक टीचर्स के कागज पर फर्जी साइन करवाता था कि उन्हें 40 हजार रुपये महीना तनख्वाह दे दी गई है। लेकिन हकीकत में ...केवल 5000 से 8000 रुपये महीना ही देता था। ...टीचर जब भी सरकार के पास शिकायत करने आते थे तो सरकार भी कोई कार्रवाई नहीं कर पाती थी। क्योंकि सरकार यदि स्कूल को... बाध्य करती, तो यह स्कूल ही बन्द हो जाता।''* चूंकि दिल्ली सरकार शोषण और लूट को ही कानूनी मान्यता देने जा रही है तो अब शोषण और भ्रष्टाचार दोनों का अंत हो जाएगा!

विधेयक के संभावित प्रभाव

इस अधिनियम से पूर्व आज तक जहां निजी स्कूलों में कम वेतन पर अप्रशिक्षित शिक्षक और शिक्षिकाएं नौकरी पाते रहे हैं वहीं अब इस अधिनियम के लागू हो जाने के पश्चात् इनमें कम वेतन पर प्रशिक्षित शिक्षकों और शिक्षिकाओं को कानूनी रूप से रखा जा सकेगा। यह अधिनियम अब निजी स्कूलों द्वारा शिक्षकों के शोषण को वैधता प्रदान करेगा। शिक्षिकाओं के ऊपर इसकी दोहरी मार पड़ेगी। पितृसत्तात्मक समाज में 'शिक्षण' को महिलाओं के लिए एक 'उपयुक्त' पेशा समझा जाता रहा है और इसमें सामाजिक आग्रहों के चलते महिलाओं की भागीदारी पुरुषों की अपेक्षा अन्य पेशों की तुलना में कहीं ज्यादा बढ़ी है। इस संदर्भ में यह संशोधन विशेषकर महिलाओं (शिक्षिकाओं) के आर्थिक स्वावलम्बन पर कुठाराघात करेगा।

इस अधिनियम के लागू होने का एक (दुष्)परिणाम यह होगा कि पहले से ही कुक्करमुत्तों की तरह फल-फूल रहे निजी स्कूलों की संख्या में और वृद्धि होगी। 'कम लागत' निजी स्कूलों की संख्या में बढ़ोतरी होगी जिसके लिए बहुत से स्वयंसेवी संगठन व अन्तर्राष्ट्रीय वित्त-पोषित संस्थाएं लगातार वकालत कर रही हैं। इस संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता कि सरकार के ऊपर इस बिल को पास कराने में ऐसी संस्थाओं का हाथ रहा हो। वैसे भी जब सरकार की शिक्षा सलाहकार समिति में शिक्षा को मुक्त बाजार में बेचने के पक्षधर ऐसे स्वयंसेवी संगठनों के लोग भरे हुए हों तो यह लाजिमी है कि वे सरकार को ऐसी ही सलाह देंगे जो उनके अपने हितों को साधें।

ध्यातव्य है कि शिक्षा का अधिकार अधिनियम, 2009 विद्यालय के लिए कुछ मानदण्डों का निर्धारण करता है, जिनमें खेल के मैदान, पुस्तकालय आदि शामिल हैं जो निजी स्कूल इन मानदण्डों को पूरा नहीं करते हैं, वे कैसे इन शर्तों को पूरा कर पाएंगे जबकि वे पहले से ही संसाधनों की कमी का रोना रोते आए हैं! भाजपा नीत वर्तमान राजग सरकार के आने से पूर्व ही इस बात का गुणगान किया जाता रहा है कि भारत के विकास के लिए गुजरात मॉडल को लागू किया जाएगा। यह वही गुजरात मॉडल है जिसमें शिक्षकों और शिक्षिकाओं को पूरा वेतन नहीं दिया जाता और वे बहुत ही कम वेतन पर अध्यापन कार्य कर रही हैं। गुजरात मॉडल के समर्थकों के तर्कों की तर्ज पर यह हैरानी की बात नहीं होगी कि ऐसे निजी स्कूलों को बंद होने से बचाने के लिए, बच्चों के हितों को 'सुरक्षित' करने के नाम पर, उपर्युक्त मानदण्डों को भी शिथिल कर दिया जाए। जब शिक्षकों को पर्याप्त वेतन ही नहीं मिलेगा तो 'शिक्षण' के पेशे में लोगों की रुचि में कमी आएगी और इसका असर शिक्षण प्रशिक्षण संस्थाओं तथा उनकी गुणवत्ता पर भी पड़ेगा। एक तो पहले से ही शिक्षण-प्रशिक्षण संस्थाओं का हाल खस्ता है, ऊपर से इस प्रकार शिक्षिकाओं और शिक्षकों की सामाजिक स्थिति और हकों पर होने वाले हमलों से ये संस्थाएं और भी बुरी स्थिति में पहुंच जाएंगी।

इस तरह के कानून से उन संस्थाओं व स्वार्थों को मजबूती मिलेगी जो एजूप्रेन्यॉरशिप[1] को बढ़ावा देते हैं। मुक्त बाजार के इन पैरोकारों के मुताबिक शिक्षा का क्षेत्र भी बाजार के उन अन्य क्षेत्रों की तरह होना चाहिए जहां राज्य का नियंत्रण न हो तथा इस क्षेत्र में प्रवेश (निवेश) व विस्तार (लाभ) के लिए मापदण्डों तथा कानूनी शर्तों की कोई पाबंदी नहीं होनी चाहिए। 12वी पंचवर्षीय योजना का 'एप्रोच पेपर' भी इस चलन की जमीन तैयार करता है। इसके अनुसार शिक्षा के क्षेत्र में मुनाफा कमाने पर रोक लगाने वाली वर्तमान नीति की पुनर्समीक्षा करने की आवश्यकता है। जाहिर है कि यह पूरी कवायद शिक्षा को सार्वजनिक क्षेत्र और सरकार की जिम्मेदारी से निकालकर बाजार की वस्तु बनाकर निजी हाथों में सौंपने की है। जहां पहले निजी स्कूल शिक्षिकाओं और शिक्षकों को वास्तव में उचित वेतन न देकर कागज पर पूरा वेतन देने की बेईमानी करते थे वहीं अब ये नैतिक रूप से यह बेईमानी करने से बच जाएंगे! अब सरकार उन्हें इसके लिए अधिकार दे देगी कि वे कानून के दायरे में अपने शिक्षकों और शिक्षिकाओं का शोषण कर सकें।

अंत में, सार्वजनिक स्कूलों में पढ़ाने वाले बहुत से शिक्षक/शिक्षिका साथियों को शायद यह लग रहा होगा कि यह कानून सिर्फ निजी स्कूल के शिक्षकों/शिक्षिकाओं तक ही महदूद है और इसलिए उन्हें इसका विरोध करने की आवश्यकता नहीं है। लेकिन यह उनका भ्रम ही होगा, क्योंकि इसका अगला शिकार वे ही होंगे। हमारा यह मानना है कि राज्य की नीतियों का यह चलन अगर जारी रहा तो यह सिर्फ निजी स्कूलों के शिक्षकों तक ही सीमित नहीं रहेगा वरन् देर-सवेर सरकारी स्कूलों के शिक्षिकाएं और शिक्षक भी इसकी जद में आएंगे। ◆

* यह आलेख 16 दिसम्बर, 2015 को जनसत्ता में प्रकाशित आलेख का विकसित एवं विस्तृत रूप है।

[1] यह शब्द एजूकेशन (शिक्षा) तथा ऑन्त्रोप्रोन्यॉरशिप (उद्योग-धंधा) का संयोजन है जो स्कूल खोलने और चलाने को किसी भी अन्य व्यवसाय के समान देखने के आग्रह को साफ दर्शाता है।

लेखक परिचयः बीरेन्द्र सिंह रावत दिल्ली विश्वविद्यालय के शिक्षा विभाग में कार्यरत हैं।
मनोज कुमार चाहिल दिल्ली विश्वविद्यालय के शिक्षा विभाग में शोधार्थी हैं।
फिरोज अहमद दिल्ली में स्कूल शिक्षक हैं।

भाषा शिक्षणः सीखने के कुछ अवसर

अनुपमा तिवाड़ी

राजस्थान के टोंक शहर में अजीम प्रेमजी फाउंडेशन द्वारा पिछले तीन साल से एक उच्च प्राथमिक विद्यालय संचालित किया जा रहा है। इस विद्यालय में सभी बच्चे लगभग छह किलोमीटर दूर बम्बोर गांव से पढ़ने आते हैं। कक्षा में सभी बच्चे और शिक्षिका फर्श पर बिछी दरी पर बैठते हैं। कोशिश यह रहती है कि बच्चे स्वानुशासित और सहज महसूस करें। बच्चों की सहभागिता शिक्षण प्रक्रियाओं में महत्वपूर्ण रहती है। कक्षा में अमूमन बच्चे एक-एक कर अपनी बात रखते हैं और शिक्षिका की बात सुनते हैं। बच्चों के साथ एक विस्तृत योजना बनाकर काम किया जाता है ताकि बच्चे भाषा शिक्षण के अपेक्षित उद्देश्यों को हासिल कर पाएं तथा विषय के प्रति उनकी रुचि बनी रहे। पिछले दो साल से इन बच्चों के साथ हिंदी विषय में यही शिक्षिका काम कर रही हैं इसलिए बच्चों और शिक्षिका के बीच सहज रिश्ता बन गया है। शिक्षिका बच्चों के साथ अपने काम की योजना साझा करती हैं। बच्चे और शिक्षिका एक-दूसरे के तौर तरीकों से वाकिफ हैं।

आमतौर पर शिक्षिका अध्याय को परिवेश से जोड़ने की कोशिश करती हैं। अपरिचित शब्दों के अर्थ के लिए बच्चों को शब्दकोश का प्रयोग करने एवं सन्दर्भ में अर्थ खोजने के अवसर देती हैं। अध्याय में आए मुहावरे एवं लोकोक्तियों का अर्थ खोजने एवं उपसमूहों में प्रश्नों पर आपस में चर्चा करने और कहानी को अपने शब्दों में लिखने तथा उस पर अभिनय करने, चित्र बनाने, अवलोकन करने के अवसर देती हैं। शिक्षिका अपनी योजना में जरूरी नहीं कि हर पाठ पर ये सब काम करवाएं। वे अध्याय और बच्चों की जरूरत के मुताबिक क्या करना ठीक है, इसे ध्यान में रखकर योजना बनाती हैं।

वे कभी-कभी बच्चों को गृहकार्य भी देती हैं जो मुख्य रूप से किसी संबंधित व्यक्ति से चर्चा करके जानने और लिखने जैसा काम होता है। जब कभी निर्धारित कालांश में कुछ बच्चों का काम अधूरा रह जाता है तब भी बच्चे उसे घर से पूरा करके लाते हैं। कुछ बच्चे नहीं कर पाते तो वे उसकी वजह सभी के बीच रखते हैं। बच्चों को दिया जाने वाला गृहकार्य उनके कक्षा में सीखे हुए को आगे बढ़ाने में मदद करता है। बच्चे कक्षा में अपने विचार रखने और उन्हें लिखने के प्रति काफी सहज हैं। वे जो भी लिखते हैं उसमें वे अपनी कल्पना और विचार खुलकर अभिव्यक्त करते हैं। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए वे अपने तर्क भी रखते हैं। ऐसे अवसर बच्चों को अपनी बात कहने और लिखने के लिए प्रेरित करते हैं।

स्कूल में 'राजस्थान राज्य शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण संस्थान, उदयपुर द्वारा प्रकाशित पुस्तकों का उपयोग किया जाता है। विद्यालय में हिंदी विषय की कक्षा 7 (वसंत भाग-2) में शिक्षिका ने अपनी कक्षा के विद्यार्थियों के साथ 'मिठाईवाला' पाठ पर काम किया उसी से जुड़े कुछ अनुभव यहां साझा करने का प्रयास किया जा रहा है।

कहानीः मिठाईवाला

भगवती प्रसाद वाजपेयी द्वारा लिखी उक्त कहानी में एक मौहल्ले में एक फेरीवाला फेरी लगाकर-लगाकर पहले खिलौने बेचता था फिर उसके छह महीने बाद मुरली बेचने लगा और फिर मिठाई बेचने लगा। मिठाई जो कि खट्टी-मिट्ठी, मुंह में जल्दी न घुलने वाली होती हैं। फेरीवाला इतने मीठे स्वर में आवाज लगाकर चीजें बेचता था कि बच्चे अपने घरों से निकल-निकल कर झुण्ड के रूप में उसे घेरे रहते थे। वह लागत जितनी कीमत में ही चीजें बेचता था। उसे मुनाफा कभी हो पाता, तो कभी नहीं। अमूमन लोगों की फेरीवालों के बारे में ऐसी धारणा होती है कि वे कहते तो हैं कि वे सस्ती चीजें बेच रहे हैं जबकि ऐसा होता नहीं है। लेकिन वह जिन दामों में चीजें बेचता था वह इतनी सस्ती होती थीं कि कई लोग तो सोचते थे कि यह इतना सस्ता बेच रहा है इसमें इसे क्या बचता होगा?

एक बार एक बच्चे की मां रोहिणी ने फेरीवाले से पूछा कि तुम इस मौहल्ले में पहली बार आए हो? तब वह कहता है कि नहीं पहले भी आ चुका हूं। बातचीत में खुलासा होता है कि मिठाई बेचने से पहले वह मुरली बेचने आया था और उससे भी पहले वह खिलौने बेचने आ चुका है। रोहिणी कहती है कि तुम इतना सस्ता बेचते हो तो तुम्हें क्या बचता होगा? तब वह कहता है कि मेरे पास पैसे की कमी नहीं है लेकिन जो नहीं है वह इन बच्चों के बीच में आकर पा जाता हूं। मेरे भी घर में सुन्दर पत्नी थी, दो सोने जैसे खेलते-कूदते बच्चे थे, बाहर वैभव और अन्दर परिवार का सुख था पर आज कुछ भी नहीं है। यह कहते हुए उसकी आंखें नम हो जाती हैं और फिर वह रोहिणी के बच्चों को मिठाई देने के बाद पैसे भी वहीं छोड़ जाता है।

कहानी का अंत कक्षा के बच्चों को भी कुछ क्षण के लिए उदास कर देता है और बच्चों के मन में उस फेरीवाले के प्रति संवेदना पैदा होने लगती है।

पाठ पर काम करने के दौरान कक्षा में फेरीवाले पर चर्चा की गई। बच्चों ने बताया कि उनके गांव में भी फेरीवाले (घूम-घूम कर सामान बेचने वाले) आते हैं। एक बच्चे ने कहा, ''दीदी हमारे गांव में फेरीवाले ठेले पर कंघा, शीशा, चाकू, रबर, नाखुनी (नेल पोलिश), बिंदी बेचने आते हैं और सामानों के नाम ले-लेकर बेचने के लिए आवाज लगाते हैं''। दूसरे ने कहा, ''दीदी सब्जी वाले भी साईकिल पर बड़ा-सा टोकरा रखकर सब्जी बेचने आते हैं, कुछ सब्जी वाले ठेले पर भी सब्जी लाते हैं''। एक अन्य बच्चे ने कहा, ''दीदी यहां (टोंक) में तो फेरी वाले कम आते हैं''। शिक्षिका ने पूछा कि टोंक में कम क्यों आते हैं? बच्चों ने जवाब दिया, ''दीदी यहां तो बाजार है, तो लोग बाजार में जाकर ही चीजें खरीद लेते हैं। गांव तो थोड़ा दूर है इसलिए फेरीवाले वहां सामान ले जाकर बेचते हैं क्योंकि गांव में तो हर चीज की दुकान नहीं होती है और उन्हें हर चीज खरीदने के लिए शहर में आना पड़ता है। हमारे गांव में तो 2-3 छोटी-छोटी दुकानें हैं जिन पर बिस्कुट, टॉफी, इमली, बीडी, माचिस जैसी चीजें ही मिलती हैं। जब फेरी वाले हमारे गांव में आते हैं तब हमारे गांव की औरतें उनसे बिंदी, चूड़ी जैसी चीजें खरीदती हैं। कोई-कोई तो कहती हैं कि हम तो शहर से लाएंगे''। बातचीत के बाद शिक्षिका ने सभी से अध्याय पढ़ने के लिए कहा। इसके बाद 2-3 बच्चों ने अपने शब्दों में अध्याय को कक्षा में सुनाया।

शिक्षिका ने पाठ पर काम करने के दौरान ही बच्चों को गृहकार्य दिया कि आप अपने गांव में किसी फेरीवाले से बात करके उनके जीवन और काम के अनुभवों के बारे में जानेंगे। जैसे आप उनका नाम पूछ सकते हैं, वे कब से यह काम कर रहे हैं? उन्हें यह काम करते हुए कैसा लग रहा है? उन्होंने इसी काम को क्यों चुना? वे आगे क्या करना चाहते हैं? उनके परिवार के बारे में भी पूछ सकते हैं लेकिन इसके लिए आपको पहले कुछ सवाल बनाने होंगे। दूसरे, यह ध्यान रखना होगा कि उन्हें आपका कोई सवाल बुरा नहीं लगे। तीसरे, यदि वे कुछ सवालों के जवाब नहीं दें तो उत्तर पाने के लिए जबरदस्ती नहीं करनी है। अंतिम यह कि उनसे बात करने से पहले उनसे सहमति लेना जरूरी है। इसी तरह से आप अपने परिवार में दादा-दादी या मम्मी-पापा से भी फेरीवालों के बारे में बात करके कुछ लिख सकते हैं जैसे बहुत साल पहले यानी जब आपके दादा-दादी जवान थे तब भी आपके गांव में इसी तरह से फेरीवाले सामान बेचने आते थे या कुछ दूसरी तरह से? तब से अब तक फेरीवालों के सामान बेचने के तरीके में कुछ बदलाव आया है या पहले जैसा ही है? यदि आप किसी से बात करके

नहीं आना चाहते तो अब यह पाठ पढ़ने के बाद आप फेरीवालों के बारे में क्या सोचते हैं? इस पर भी लिखकर ला सकते हैं। इसके अलावा उन्होंने फेरीवालों के संबंध में कुछ भी स्वेच्छा से लिखकर लाने के लिए कहा।

गृहकार्य में सभी बच्चे कुछ-कुछ लिखकर लाए। नीचे दिए गए बच्चों के अंशों में बच्चों के नाम बदल दिए गए हैं। इनमें से सुनीता ने फेरीवाले से बात की, मुकेश ने अपनी दादी से बात की और प्रियंका ने पाठ को पढ़ने के बाद अपने परिवेश में फेरीवालों की स्थिति को महसूस करते हुए कुछ इस प्रकार लिखाः

सुनीता ने फेरीवाले को नमस्कार करके अपने सवालों के जवाब पूछे। उसने स्वयं 16 सवाल बनाए। फेरीवाले से बात करते हुए उसने महसूस किया कि किसी का भी काम छोटा-बड़ा नहीं होता है। उसे बुरा लगता है जब लोग उनके साथ किए जा रहे व्यवहार के बारे में नहीं सोचते हैं और ये तक बोल देते हैं कि ये तो कल का सामान ही आज भी उठा कर ले आया है। ये तो कैसा भी सामान उठा कर ले आते हैं, हम तो बाजार से अच्छा सामान लाएंगे। सुनीता अंत में लिखती है कि किसी भी इंसान या प्राणी की इज्जत करना ही हमारा अपना मान है।

मुकेश को 'मिठाईवाला' पाठ में मिठाईवाले का मिठाई छोड़ कर चले जाने वाली बात दिल को छूने वाली/मार्मिक लगी। मुकेश ने अपनी दादी से बातचीत में लिखा कि पहले फेरीवाले कम आते थे। आजकल ज्यादा आते हैं। पहले वे बैलगाड़ियों में बहुत तरह का सामान लादकर लाते थे और धीमी आवाज में सामान बेचने के लिए आवाज लगाते थे क्योंकि लोग घरों के बाहर ही चबूतरों और पेड़ों के नीचे बैठे रहते थे अब तो उन्हें तेज आवाज लगानी पड़ती है क्योंकि अब लोग अपने घर के दरवाजे बंद करके रखते हैं। मुकेश का कहना है कि पहले मुझे फेरीवाले अच्छे नहीं लगते थे, अब अच्छे लगने लगे हैं। यहां मुकेश अपनी दादी से फेरीवालों के बारे में बातचीत करके उनके समय की बात जान रहा है। उसका अपनी दादी से जानने-सीखने का एक रिश्ता बन रहा है। यहां मुकेश पहले और आज की स्थितियों में आए बदलावों को देख पा रहा है।

प्रियंका ने लिखा कि उसको 'मिठाईवाला' पाठ में फेरीवाले का मीठे स्वर में बोलकर अपना सामान बेचना अच्छा लगा। उसने लिखा कि लोग फेरी लगाकर लोहे का सामान खरीदने वालों को कबाड़ी कहते हैं और उन्हें नीचा समझते हैं। लोगों की नजर में उनकी इज्जत नहीं है, बहुत ही कम लोग ऐसे हैं जो कि उनकी इज्जत करते हैं यह उसे अच्छा नहीं लग रहा है। उसका कहना है कि जब उसने यह पाठ नहीं पढ़ा था तब भी वह फेरीवालों को लोहे-लक्कड़ वाले भैया या अंकल कहकर ही बुलाती थी। पाठ पढ़कर वह फेरीवालों की जिंदगी के बारे में और अधिक जान पाई है कि उनकी जिंदगी भी हमारी जिंदगी जैसी ही होती है। उनका व्यवसाय छोटा है, पर छोटा नहीं है।

इन तीनों अनुभवों को पढ़ने पर लगता है कि बच्चों के साथ किया जा रहा शिक्षण कार्य उनकी भाषायी अभिव्यक्ति के साथ-साथ उन्हें अधिक संवेदनशील बनाने की ओर अग्रसर है। शिक्षण कार्य में शिक्षक की भूमिका और शिक्षण प्रक्रिया बहुत महत्वपूर्ण है। इसमें शिक्षक का विषय का ज्ञान, शिक्षा की समझ, उसकी इच्छा शक्ति, उसका आचरण, उसकी संवेदनशीलता का असर बच्चों पर भी दिखाई देता है। साथ ही भाषा शिक्षण के उद्देश्यों की बात करें तो इस प्रकार बच्चों के साथ किए जा रहे कार्य से बच्चों की भाषा विकसित होती है। बच्चे स्वयं अपने व दूसरों के द्वारा किए जा रहे व्यवहारों का विश्लेषण करने लगते हैं। वे मार्मिक क्षणों को महसूस करते हुए अधिक संवेदनशीलता महसूस करने लगते हैं और अधिक निर्भीकता तथा ईमानदारी के साथ अपने अनुभवों को लिख पाते हैं। ◆

लेखिका परिचयः पिछले करीब 20 साल से शिक्षा के क्षेत्र में कार्यरत हैं। फिलहाल राजस्थान के टोंक जिले में अजीम प्रेमजी फाउण्डेशन में कार्यरत हैं।

विज्ञापन

इफको का लक्ष्य यही
हो खाद का प्रयोग सही

IFFCO
पूर्णतः सहकारी स्वामित्व

नीम लेपित यूरिया | एन पी के | डी ए पी | एन पी | बॉयो फर्टिलाइजर
वॉटर सोल्यूबल फर्टिलाइजर | माईक्रो न्यूट्रीएन्ट फर्टिलाइजर | सल्फर

Follow us :
YouTube IFFCO live
iffcolive.com

IFFCO
Wholly Owned by Cooperatives

INDIAN FARMERS FERTILISER COOPERATIVE LIMITED
IFFCO Sadan, C-1 District Centre, Saket Place, New Delhi - 110017, INDIA
Phones : 91-11-26510001, 91-11-42592626. Website : www.iffco.coop

R.N.I.No.RAJHIN/1999/359 शिक्षा विमर्श

अजीम प्रेमजी यूनिवर्सिटी, बेंगलूरु के सहयोग से प्रकाशित

दिगन्तर शिक्षा एवं खेलकूद समिति, जयपुर के लिए सुश्री रीना दास द्वारा
श्री राधे एन्टरप्राइजेज, एफ-23-सी 5, मालवीय नगर, जयपुर-302017 से मुद्रित
एवं दिगन्तर, खो नागोरियान रोड, जगतपुरा, जयपुर-302017 से प्रकाशित